द्वितीय संस्करण

मूल्य एक रुपया छः आने

प्रकाशक :
रामलाल सूरी एण्ड सन्ज़, अम्बाला—दिल्ली

मुद्रक :
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली

दो शब्द

शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन ही नहीं, प्रत्युत जीवन को कठिनाइयों से लड़ने के योग्य बनाना है। भारत की स्वतंत्रता के उपरान्त हमारा उत्तरदायित्व उचित शिक्षा के प्रति और भी बढ़ गया है। अब हमें छात्रों को ऐसी शिक्षा देनी है, जिससे उनमें शौर्य का प्रवेश हो, वीरता का संचार हो और चरित्र-निर्माण की प्रेरणा प्राप्त हो। इसी उद्देश्य को सामने रखकर यात्रा और जीवट की साहस-भरी कहानियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं। इन कहानियों में चीनी यात्री फ़ाहियान और हुएनसांग की यात्राओं का विवरण दिया गया है। इन दोनों यात्रियों का विवरण उनके मौलिक ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।

यूरोप के आधुनिक अन्वेषकों का उल्लेख प्रायः मिल जाता है किन्तु उन प्राचीन अन्वेषकों का विवरण बहुत ही कम मिलता है, जिन्होंने कोलम्बस के पूर्व-काल में समुद्र में दूर-दूर तक यात्राएँ कीं। इसी बात को ध्यान में रखकर हमने कोलम्बस से पूर्व जल-स्थल में यात्रा करने वाले वीर यात्रियों का वृत्तान्त विस्तार के साथ दिया है।

मध्यकाल में इब्नबतूता बहुत बड़ा यात्री हो गया है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस यात्री का विवरण बड़े ही रोचक शब्दों में दिया है।

अजेय हिमालय का विवरण भी साहस की कहानियों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक काल की यात्रा का विवरण रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रूस यात्रा से लिया गया है।

अन्वेषकों और यात्रियों के साहस तो प्रसिद्ध हैं ही, इनके अतिरिक्त वे लोग भी प्रशंसा के पात्र हैं, जिन्होंने निर्धनता या

साधारण स्थिति में जन्म लेकर धनार्जन तथा ज्ञानार्जन द्वारा देश को समृद्धिशाली एवं गौरवान्वित किया है।

ताता और सर गंगाराम ने अपने अध्यवसाय के बल से उद्योग-धन्धों की वृद्धि की। करोड़ों रुपयों का माल देश में तैयार होने लगा। इस प्रकार विदेशों में जाने से हमारी सम्पत्ति बच गई। इस पुस्तक में ऐसे अध्यवसायी कर्मवीरों का विवरण दिया गया है।

सर जगदीशचन्द्र बोस के वैज्ञानिक आविष्कारों से संसार की दृष्टि में भारत का मस्तक ऊँचा उठा। उनके अध्यवसाय और आविष्कार की जितनी प्रशंसा की जाय वह कम है।

युद्ध-क्षेत्र में वीरता दिखाने वाले बालकों और बड़ों की संख्या हमारे देश में कम नहीं। बादल और पुत्त मध्यकाल के विलक्षण वीर हो गए हैं। उनका विवरण बालक-बालिकाओं में शौर्य और साहस भरने में समर्थ होगा। विगत महायुद्ध में वीरता दिखाने वाले योद्धाओं की भी चर्चा की गई है। भारतीय रक्त की आहुति द्वारा सम्पन्न यज्ञ इस बात का प्रमाण है कि भारतीय साहस और वीरता में किसी से पीछे नहीं रह सकते।

इस पुस्तक में जिन विद्वान् लेखकों के लेखों से सहायता ली गई है उनका उल्लेख करना और उन्हें धन्यवाद देना हम अपना धर्म समझते हैं। डा० श्रीनाथसिंह, व्यथित हृदय, नर्मदेश्वर प्रसाद, श्रीचण्डीप्रसाद, बेनीपुरी आदि सज्जनों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

इस पुस्तक के प्रकाशक श्री सतवन्तलाल सूरी ने इसे शुद्ध और सुन्दर रूप में प्रकाशित करने का पूर्ण प्रयास किया। अतएव हम उन्हें भी धन्यवाद देते हैं।

विजय दशमी
संवत् २००६ वि०

—*दशरथ ओझा*

विषय-सूची

विषय

यात्रा—

१. फ़ाहियान की यात्रा

२. हुएनत्सांग की भारत-यात्रा

३. प्राचीन योरुप के अन्वेषक

४. कोलम्बस के पूर्व अमेरिका की खोज

५. समुद्र-विजयी वीर

६. इब्नबतूता

७. अजेय हिमालय

८. रवीन्द्रनाथ की रूस-यात्रा

९. पुरुषार्थी ताता

१०. पंजाबी पुरुषार्थी

११. भारतीय वैज्ञानिक का अध्यवसाय

वीरता—

१२. बादल

१३. पुत्त

१४. विक्टोरिया-क्रास के भारतीय विजेता

१५. परचून वाले का साहस

१६. भारतीय वीरता

फ़ाहियान की यात्रा

[फ़ाहियान ने ३६६ ई० से ४१२ ई० तक यात्रा की। भारत में इस समय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य राज्य करते थे। ६ वर्ष तक फ़ाहियान ने भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया। भारत की यात्रा समाप्त करके जल मार्ग से अपने देश को लौट गया।

आज से साढ़े पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व इस यात्री ने जिस साहस, धैर्य, ज्ञान-पिपासा तथा सहिष्णुता का परिचय दिया है, वह संसार की यात्रा के इतिहास में अमर रहेगा।]

कपिलवस्तु के लुम्बिनी-कानन से पूर्व की ओर ५ योजन चल कर फ़ाहियान राम नामक जनपद में पहुँचे। यहाँ के स्तूप के विषय में फ़ाहियान ने अद्भुत कथा लिखी है। वे लिखते हैं कि देश के राजा ने बुद्धदेव के धातु के अंश पर जो स्तूप बनाया था वह एक झील के किनारे था। उस झील में एक नाग रहता था, वही स्तूप की पूजा-अर्चा करता था। अशोक सात स्तूपों को ध्वंस कर इस आठवें स्तूप की खुदाई कराना चाहता था, पर नाग ने जब उसे नागलोक में ले जाकर पूजा की सामग्री दिखाई तो वह दंग रह गया और उसने उस स्तूप को नहीं गिरवाया। वहाँ घना जंगल हो गया था और हाथी अपनी सूँडों में पानी भरकर स्तूप पर चढ़ाते और वहाँ सफाई करते थे। एक बार कहीं का कोई यात्री स्तूप के दर्शन के लिए आया। राह में उसे हाथियों का एक झुण्ड

मिला। यात्री देखते ही भय के मारे पेड़ पर चढ़ गया और वहाँ से देखता रहा। हाथियों ने अपनी सूँड से पानी लाकर स्तूप पर छिड़का और फिर फूल तोड़कर उस पर चढ़ाया। हाथियों का यह कृत्य देखकर उसे ग्लानि हुई। वह भिक्षु हो गया और वहाँ सफाई करके रहने लगा। फिर वहाँ के राजा ने एक मठ बनवाया और वह भिक्षु उस मठ का महन्त बना। तब से उस मठ का महन्त श्रमण हुआ करता है। यह कथा फ़ाहियान ने किसी मठ-भिक्षु से सुनी अथवा वहाँ के महन्त से, इसका कुछ उल्लेख नहीं है। हुएनसांग का कथन है कि इस स्तूप से प्रकाश निकलता था।

इस स्थान का पता अब तक नहीं लगा है। अधिक सम्भव है कि वह पिपरहवा का स्तूप हो, पर उसका अंतर केवल ८ मील-मात्र है, क्योंकि आज तक वही एक स्तूप मिला है जिसमें बुद्ध-देव का अवशेष उस समय से अब तक ज्यों का त्यों रखा मिला है। यदि वह स्थान नहीं है तो अधिक सम्भव जान पड़ता है कि यह गोरखपुर के आसपास कहीं रहा हो। गोरखपुर के आस-पास अनेक ताल भी हैं और स्वयं गोरखपुर के पास ही रामगढ़ का ताल है और पास ही उस नाम का जंगल भी है। अधिक सम्भव है कि यह स्तूप यहीं-कहीं रहा हो, पर ध्वस्त हो जाने से अब उसका पता नहीं चलता। अनेक पुराने खंडहर वहाँ अब भी मिलते हैं।

रामगढ़ से होकर ४ योजन पर फ़ाहियान और तावचांग को वह स्थान मिला, जहाँ से सिद्धार्थ ने कपिलवस्तु से गृह-त्याग

करने पर अपने घोड़े को छंदक के हाथ कपिलवस्तु को लौटाया था। वहाँ पर एक स्तूप था। इस स्थान का पता अब तक नहीं चला है।

वहाँ से चार योजन और पूर्व को जाकर अंगार स्तूप मिला। यह अंगार-स्तूप बौद्धधर्म के ग्रन्थों के अनुसार पिप्पलीकानन के मौर्यों का बनवाया स्तूप था। कुशीनगर में बुद्धदेव के धातु का विभाग हो जाने पर मौर्य पहुँचे, तो द्रोणाचार्य ने उन्हें (मौर्यों-को) भस्म के विभक्त हो जाने पर पात्र से चिता के अंगारों (कोयलों) को निकालकर दे दिया था। उन्हें एक स्तूप बनाकर रखा गया। उस स्तूप का भी पता अब तक नहीं लगा है। सम्भव है कि अशोक के तुड़ाये हुए सातों स्तूपों की गणना में यह भी रहा हो। यदि यह ठीक है, तब तो रामग्राम और कपिलवस्तु के दो स्तूप बच रहे थे, अंगार स्तूप नवम स्तूप था।

अंगार स्तूप से १२ योजन पूर्व जाकर कुशीनगर मिला। यहाँ बुद्धदेव परिनिर्वाण को प्राप्त हुए थे। यहीं सुभद्र को उन्होंने अन्त-समय में उपदेश दिया था और वह अर्हत हो गया था। यहाँ फाहियान को अनेक स्तूप और संघाराम मिले। नगर उस समय उजाड़ पड़ा था। केवल कुछ तितर-बितर श्रमणों के घर थे। इस वाक्य से ध्वनित होता है कि श्रमण गृहस्थ थे।* यह स्थान गोरखपुर में कसया के पास है। वहाँ अब भी एक स्तूप है और संघाराम के चिह्न मिलते हैं। पास ही बुद्धदेव की एक बड़ी लम्बी

* नेपाल में गृहस्थ अब तक श्रमण हैं। वे बाड़व कहलाते हैं।

मूर्ति है जो उत्तर को सिर और दक्षिण को पैर किये पड़ी है। वहाँ आसपास अनेक स्तूपों के ध्वंसावशेष हैं और कई मूर्तियाँ भी मिलती हैं।

कुशीनगर से दक्षिण-पश्चिम १२ योजन चलकर यात्रियों को वह स्थान मिला, जहाँ से बुद्धदेव ने लिच्छवी लोगों को कुशी-नगर की ओर परिनिर्वाण में आते समय लौटाया था। यहाँ एक झील थी, जिसके विषय में फाहियान ने लिखा है कि लिच्छवी लोगों ने बुद्धदेव के साथ परिनिर्वाण स्थान पर चलने की इच्छा की और बुद्धदेव ने न माना। फिर भी वे बुद्धदेव के साथ चल पड़े। जब कहने पर भी वे नहीं लौटते थे, तब बुद्धदेव ने एक बड़ा ह्रद प्रगट किया, जिसे वे पार न कर सके। फिर बुद्धदेव ने अपना भिक्षा-पात्र चिह्न-स्वरूप देकर उन्हें घर लौटाया। इस जगह पर स्तम्भ बना है। उस पर यह कथा खुदी है।

इस स्थान का और इस स्तंभ का पता अब तक नहीं चला है। सम्भव है कि अशोक ने वहाँ कोई स्तूप बनवाया हो, पर अब उसका पता नहीं है। डा० हे का यह अनुमान है कि यह स्थान सीवान के पास होगा।

लिच्छवी लोगों के लौटने के स्थान से १० योजन-पूर्व चल कर फाहियान और उसका साथी वैशाली राज्य में पहुँचे। वैशाली नगर के उत्तर में एक जंगल में बुद्धदेव के रहने का विहार था। नगर में अम्बपाली का आराम और उत्तर-पश्चिम धनुर्बाण-त्याग-स्तूप तीन-तीन ली पर थे। नगर के पश्चिम में उस स्थान पर एक

पुराना स्तूप था, जहाँ बुद्धदेव ने अन्तिम समय वैशाली से चलने पर खड़े होकर कहा था "यह मेरी अन्तिम विदा है।" धनुर्वाण त्याग स्तूप के पास ही भगवान् बुद्धदेव ने आनन्द से यह कहा था कि मैं तीन महीने बाद परिनिर्वाण प्राप्त होऊँगा। उस स्थान से ४ मील पश्चिम वैशाली की धर्मसंगति का स्थान था, जहाँ बुद्धदेव के परिनिर्वाण के १०० वर्ष पीछे त्रिपिट की पुनरावृत्ति की गई थी।

वैशाली नगर का खण्डहर अब बिहार में मुजफ्फरपुर के जिले में बेसर गाँव के निकट है। वहाँ अब तक अशोक का एक स्तंभ भी है। नगर के प्राचीर का चिह्न १५८० फीट लम्बा और ७५० फुट के घेरे में मिलता है।

वैशाली से पूर्व ४ योजन पर पाँच नदियों का संगम पड़ा। वहाँ आनन्द ने परिनिर्वाण लाभ किया था। नदी के मध्य ही आनन्द ने अपने शरीर को योगाग्नि से भस्म किया था। उनके शरीर के भस्म के दो भाग हो गये। एक भाग तो वैशाली के लिच्छवी लोगों ने लेकर अपने राज्य में स्तूप बनवाया और दूसरा भाग मगध के राजा अजातशत्रु ले गये और उस पर अपने राज्य में उन्होंने स्तूप बनवाया। यह स्थान संभवतः वही है, जहाँ सोनपुर है। वहीं पर ही गंगा, सोन और गंडक आदि नदियाँ आपस में मिलती हैं।

यहाँ फाहियान अपने साथी के साथ गंगा पार हुए और एक योजन दक्षिण चलकर पाटलिपुत्र नगर में पहुँचे। पाटलिपुत्र का

नगर पटने के पास था। यहाँ फ़ाहियान ने अशोक के राज-भवन देखे। वह लिखता है, "नगर में अशोक राजा का प्रासाद और सभाभवन हैं। सब असुरों के बनाये गए हैं। पत्थर चुनकर भीत और द्वार बनाये गये हैं। सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग ऐसा नहीं बना सकते हैं।" यहाँ उसने अशोक के एक भाई की कथा भी लिखी है, जो अर्हत हो गया था और गृध्रकूट पर रहता था, तथा जिसके लिये राजा ने असुरों से नगर में पर्वत और गुहा बनवाई थी। साथ ही उसने राधास्वामी-नामक एक ब्राह्मण-बौद्ध का माहात्म्य और चरित भी लिखा है। फ़ाहियान ने यहाँ एक ऐसे संघाराम का उल्लेख किया है, जहाँ मंजुश्री नामक एक ब्राह्मण आचार्य रहता था और दूर-दूर के लोग वहाँ विद्याभ्यास के लिये आते थे। यह संघाराम अशोक के स्तूप के पास था। इस देश में सम्पन्नता का वर्णन फ़ाहियान ने इस प्रकार किया है—"मध्यदेश में इस जनपद का यह सब से बड़ा नगर है। अधिवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली हैं, दान और सत्य में स्पर्धालु हैं।" फ़ाहियान ने यह भी लिखा है कि यहाँ बड़ी धूम-धाम से रथयात्रा होती थी। रथयात्रा का प्रचार सारे देश में था। अशोक के पहले स्तूप के विषय में जो उसने पाटलिपुत्र में बनवाया था, फ़ाहियान ने लिखा है—"पहला महास्तूप जो उसने बनवाया, नगर के दक्षिण ३ ली से अधिक दूरी पर है। इस स्तूप के सामने बुद्धदेव का पदचिह्न है। स्तूप के दक्षिण में पत्थर का स्तम्भ है। यह घेरे में चौदह-पन्द्रह हाथ और ऊँचाई

में ३० हाथ से अधिक है। उस पर यह वाक्य खुदा हुआ है—
"अशोक राजा ने जम्बुद्वीप चारों ओर के भिक्षुसंघ को दान कर दिया। फिर धन देकर ले लिया। यह तीन बार किया।" स्तूप के उत्तर में ४०० पग पर अशोक राजा ने 'नेले' नगर बसाया था। 'नेले' नगर में पत्थर का एक स्तम्भ है। ३० हाथ से अधिक ऊँचा है। ऊपर सिंह है। स्तम्भ पर नगर बसाने का हेतु, वर्ष, तिथि और मास खुदा है।

पाटलीपुत्र का खण्डहर वर्तमान पटना के पास महाशय रत्न-ताता के उद्योग से खुदाई करने पर निकला है। अभी कुछ अंश-मात्र प्रकट हुआ है, शेष मिट्टी के नीचे दबा पड़ा है। महाराजा अशोक के राज-भवन के कुछ अंश को निकला देख कर स्पूनर साहब का यह मत है कि उसकी बनावट ईरान के महलों के ढंग की थी और इसी आधार पर मौर्यों को भी ईरानी कहने में उन्होंने कुछ संकोच नहीं किया है। अशोक ने अपने महलों के बनवाने में दूर-दूर के देशों के कारीगरों को बुलाकर काम लिया था। उसमें ईरान से यूनान तक के कारीगर लगे थे और अनेक प्राचीन वस्तुओं के नमूनों को लेकर उसका निर्माण कराया गया था। इसी से यात्रियों ने उसे असुरों का बनाया लिखा है। पाटलिपुत्र नगर का उल्लेख पुराणों में नहीं है। इसे मगध के महाराजा अजात-शत्रु ने गंगा और सोन के संगम पर बसाया था। पहले वहाँ लिच्छवी लोगों को आगे बढ़ने से रोकने के लिए अजातशत्रु ने एक दुर्ग बनवाया था। दुर्ग उसके राजत्वकाल में पूरा बन गया

था या नहीं; यह कहा नहीं जा सकता, पर नगरनिर्माण की समाप्ति उसके पुत्र उदयन के काल में हुई थी। महाराजा नन्द के समय में मगध की राजधानी पाटलिपुत्र थी। धननन्द को ध्वंस कर चाणक्य के उद्योग से चन्द्रगुप्त मगध का राजा हुआ और उसने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाई। तब से लगातार पाटलिपुत्र की की श्रीवृद्धि होती गई। चन्द्रगुप्त के पोते अशोक के समय में वहाँ अनेक भवन विशेषतः विहार और स्तूप बने। नेले नगर का पता अब तक नहीं चला है। सम्भवतः यही है कि अशोक ने इस नगर को उस समय बसाया है, जब वह बौद्धधर्म की दीक्षा ले त्यागी बनकर अलग रहने लगा था। यह एक छोटा-सा ग्राम था। इसके समीप निर्मित स्तूप पर क्या खुदा था, ठीक उस गाँव के बसाने का कारण और तिथि-मिति लिखी थी वा नहीं, इसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। अधिक सम्भव है कि उस स्तूप पर अशोक के धर्मलेख रहे होंगे, जिससे फाहियान ने उस नगर के बनने का हेतु और तिथि-मिति समझ लिया होगा। अशोक राजा के भाई का उल्लेख जो फाहियान ने किया है वह महेन्द्र ही प्रतीत होता है और सम्भव यही जान पड़ता है कि उसी के सम्बन्ध से अशोक को बौद्ध-धर्म पर प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न हुई हो। उस समय फाहियान ने देश में औषधालयों और धर्मशालाओं का उल्लेख किया है। वे सम्भवतः वे ही थे जिन्हें अशोक ने सारे राज्य में स्थापित किया था और जिनके उल्लेख अशोक के द्वितीय शासन में हैं। उस समय चिकित्सालयों का व्यय राज्य

की ओर से नहीं दिया जाता था, प्रत्युत् श्रद्धालु सेठ और धनिक लोग ही इनके व्यय के लिए प्रबन्ध करते थे। जगह-जगह सड़कों और मार्गों का उल्लेख जो फाहियान के यात्रा-विवरण में पाया जाता है, प्रायः इन्हीं राज्य-मार्गों का निर्देशक जान पड़ता है जिन को अशोक ने अपने समय में राज्य-भर में बनवाया था और जिन का उल्लेख अशोक के अभिलेखों में है।

पाटलिपुत्र से फाहियान और नावचिंग दक्षिण-पूर्व की ओर चले। ६ योजन चलने पर एक पर्वत मिला। उस पर्वत की गुहा में देवराज शक्र ने भगवान् बुद्धदेव के पास आकर बयालीस प्रश्न भूमि पर रेखा खींच-खींचकर किये थे। फाहियान ने लिखा है कि लकीरें अब तक पत्थर पर बनी हैं और यहाँ पर एक संघाराम भी है। हुएनसांग ने इस गुहा का नाम 'इन्द्रशिल' गुहा लिखा है। यह स्थान गया से ३६ मील पर नदी के किनारे है। नदी के किनारे-गिरियक गाँव के पास एक पर्वत की दो चोटियाँ हैं जो नदी पर लटकी हुई हैं। एक चोटी पर अनेक खण्डहर भी दीख पड़ते हैं। शक्र के उन बयालीस प्रश्नों का विवरण कल्पसूत्र में था, जिसका अनुवाद कश्यप मातंग ने चीन देश में जाकर ६१ ईसवी में चीनी भाषा में किया था। सूत्रपिटक में भी अनेक स्थानों पर शक्र के प्रश्नों के उत्तर जो बुद्धदेव ने दिये थे, मिलते हैं। पर मुख्य ग्रन्थ जिसमें इन बयालीस प्रश्नों के उत्तर का वर्णन है और जिसका अनुवाद कश्यप मातंग ने चीनी भाषा में किया था, अब तक पाली वा संस्कृत में नहीं मिलता।

इन्द्रशील गुहा से दक्षिण-पश्चिम एक योजन चलकर वे एक गाँव में पहुँचे, जिसका नाम 'नाल' लिखा है। यह सारिपुत्र का जन्मस्थान था और यहीं उनका परिनिर्वाण भी हुआ था।

सारिपुत्र का निर्वाण बुद्धदेव के जीवनकाल ही में हो चुका था। कहते हैं कि जब बुद्धदेव से सारिपुत्र को यह मालूम हुआ कि लोकनाथ का परिनिर्वाण होने को है तो सारिपुत्र ने निवेदन किया कि मैं यह घटना अपनी आँख से न देखूँ। यह बात उसने बुद्धदेव से तीन बार कही और बुद्धदेव की अनुमति ले उनके चरण-कमलों पर अपना मस्तक धर वह राजगृह की ओर परि-निर्वाण प्राप्त होने के लिए चला। नालन्दा में पहुँचते-पहुँचते वह परिनिर्वाण को प्राप्त हुआ। सारिपुत्र का जन्म-स्थान 'उपतिष्य' नामक ग्राम पाली ग्रन्थों में लिखा है। सम्भव है कि 'नाल' इसके पास ही का कोई ग्राम रहा हो अथवा 'नाल' ग्राम ही का नाम उपतिष्य हो अथवा 'नाल' वह ग्राम हो जहाँ सारिपुत्र और मौद्गलायन अपने आचार्य्य के पास विद्याध्ययन करते [illegible] ग्रम को फाहियान ने गिरियक या इन्द्रशील पर्वत [illegible] म एक योजन पर लिखा है और हुएनसांग ने [illegible] सात योजन पर। लंका वालों [illegible] न्थों में एक योजन पर लिखा है। [illegible] च नालन्दा के स्थान को निर [illegible] र्का भी नालन्दा का ठीक पत [illegible] ने निश्चय कर दिया है

वर्तमान है। वह गाँव २६०० फुट की लम्बाई और ४०० फुट की चौड़ाई में है। पूर्व काल में वहाँ एक महाविद्यालय था जहाँ देश-देशान्तर के विद्यार्थी विद्याभ्यास के लिए आते थे। फाहियान ने वहाँ केवल एक स्तूप का उल्लेख किया है, जो सारिपुत्र के निर्वाण के स्थान पर बना था। हुएनसांग का कहना है कि नालन्दा में एक बड़ा विद्यालय था। वहाँ उसने शीलभद्र आचार्य से योग-शास्त्र पढ़ा था। यहीं उसने अनेक धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया और अनेक शंकाओं का समाधान कराया था। यहीं उसने व्याकरण-शास्त्र और हिन्दुओं के अन्य ग्रन्थों का अध्ययन भी किया था। यह नालन्दा का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बिहार प्रांत में है और उसके खण्डहर अब भी मिलते हैं। नालन्दा से पश्चिम एक योजन चलकर दोनों यात्री नवीन राजगृह में पहुँचे। फाहियान ने इसे अजातशत्रु का बसाया लिखा है पर अन्य ऐतिहासिकों का मत है कि इस नगर को महाराजा बिंबिसार ने बसाया था। अजातशत्रु ने इसे अपनी राजधानी बनाकर इसकी श्री की अधिक वृद्धि की हो पर इसकी नींव बिंबिसार ही की दी हुई प्रतीत होती है। इस नगर में दो संघाराम थे और नगर के बाहर पश्चिम द्वार से ३०० पग पर एक सुन्दर स्तूप था जिसे महाराज अजातशत्रु ने बुद्धदेव के उस धातु पर बनवाया था जो उसे कुशीनगर से प्राप्त हुआ था। अधिक सम्भव है कि यह स्तूप उस समय ध्वस्तावशेष रहा हो। राजा अशोक ने अवश्य उसे गिरवा कर बुद्धदेव के भस्म को निकलवा लिया होगा। नगर के दक्षिण द्वार

से निकलकर दक्षिण की ओर चार ली पर पाँच पर्वतों के बीच का दून मिला। यह दून बिलकुल पर्वतों से परिवेष्टित है। इसी दून के बीच में प्राचीन राजगृह का नगर बसा था। महाराज बिंबिसार की पहले यही राजधानी थी। बुद्धदेव यहाँ प्रायः निवास करते थे। फ़ाहियान का लिखना है कि यह नगर पूर्व-पश्चिम पाँच-छः ली और उत्तर-दक्षिण, सात-आठ ली लम्बा-चौड़ा था। यहाँ अनेक ऐतिहासिक घटनास्थलों का उल्लेख फ़ाहियान ने किया है, जिनमें जीवक का विहार मुख्य है। यह विहार नगर के उत्तर-पूर्व कोण में अम्बपाली के बाग में उसके पुत्र जीवक का बनवाया हुआ था। यह वहाँ उस समय वर्तमान था। नगर यात्रियों को जनशून्य मिला। उस समय वहाँ कोई नहीं रहता था। अजातशत्रु अपने पिता से विरुद्ध होकर प्राचीन नगर को छोड़ नये राजगृह में रहता था और जब अपने पिता को बन्दी कर स्वयं उसके स्थान पर बैठा तो नवीन राजगृह को उसने अपनी राजधानी बनाया। फिर बिंबिसार के मरने पर रही-सही प्राचीन राजधानी और अवनति को प्राप्त हो गई और नये राजगृह की शोभावृद्धि होने लगी।

हुएनसांग की भारत-यात्रा

[चीनी यात्री हुएनसांग का जन्म सन् ६०२ ई० में 'होनान' नगर के निकट 'चिनूल्यू' नामक स्थान पर हुआ था। यह एक मन्दिर में रहकर तेरह वर्ष की अवस्था तक विद्याध्ययन करता रहा। इसी समय देश में अशान्ति के कारण इसे शिंगटू नगर में भाग जाना पड़ा। इसी स्थान पर बीस वर्ष की अवस्था तक यह पुरोहित का काम करता रहा। तदुपरान्त ज्ञान की खोज में अपने देश में भ्रमण करता रहा। २६ वर्ष की अवस्था में दूर देशों के भ्रमण के लिए निकल पड़ा। भ्रमण करते-करते तिब्बत देश में पहुँचा। यहाँ सिंटू नदी को पार करते समय नदी के तीव्र प्रवाह में गिर पड़ा। प्रवाह में बहते-बहते दूर निकल गया और मृत्यु समीप ही थी कि किसी प्रकार तट पर लग गया। किन्तु वहाँ और भी भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ा। किनारे की खोहों और दरारों में विषैले नाग और भयानक जन्तु भरे पड़े थे। ज्यों-त्यों प्राण बचाकर उसने पुनः यात्रा प्रारम्भ की और चलते-चलते ताशकंद, समरकंद, बलख, तुषार, पुरुषपुर (पेशावर) होता हुआ वह तक्षशिला (ट्याशिलो) पहुँच गया। वहाँ का विस्तृत वर्णन हुएनसांग ने इस प्रकार लिखा है।]

तक्षशिला का राज्य लगभग २००० ली 'विस्तृत है और राजधानी का क्षेत्रफल १० ली है। राजवंश नष्ट हो गया है। बड़े-बड़े लोग बलपूर्वक अपनी सत्ता स्थापित करने में लगे रहते

से निकलकर दक्षिण की ओर चार ली पर पाँच पर्वतों के बीच का दून मिला। यह दून बिलकुल पर्वतों से परिवेष्टित है। इसी दून के बीच में प्राचीन राजगृह का नगर बसा था। महाराज बिंबिसार की पहले यही राजधानी थी। बुद्धदेव यहाँ प्रायः निवास करते थे। फाहियान का लिखना है कि यह नगर पूर्व-पश्चिम पाँच-छः ली और उत्तर-दक्षिण, सात-आठ ली लम्बा-चौड़ा था। यहाँ अनेक ऐतिहासिक घटनास्थलों का उल्लेख फाहियान ने किया है, जिनमें जीवक का विहार मुख्य है। यह विहार नगर के उत्तर-पूर्व कोण में अम्बपाली के बाग में उसके पुत्र जीवक का बनवाया हुआ था। यह वहाँ उस समय वर्तमान था। नगर यात्रियों को जनशून्य मिला। उस समय वहाँ कोई नहीं रहता था। अजातशत्रु अपने पिता से विरुद्ध होकर प्राचीन नगर को छोड़ नये राजगृह में रहता था और जब अपने पिता को बन्दी कर स्वयं उसके स्थान पर बैठा तो नवीन राजगृह को उसने अपनी राजधानी बनाया। फिर बिंबिसार के मरने पर रही-सही प्राचीन राजधानी और अवनति को प्राप्त हो गई और नये राजगृह की शोभावृद्धि होने लगी।

हुएनसांग की भारत-यात्रा

[चीनी यात्री हुएनसांग का जन्म सन् ६०३ ई० में 'होनान' नगर के निकट 'चिनूलयू' नामक स्थान पर हुआ था। यह एक मन्दिर में रहकर तेरह वर्ष की अवस्था तक विद्याध्ययन करता रहा। इसी समय देश में अशान्ति के कारण इसे शिंगटू नगर में भाग जाना पड़ा। इसी स्थान पर बीस वर्ष की अवस्था तक यह पुरोहित का काम करता रहा। तदुपरान्त ज्ञान की खोज में अपने देश में भ्रमण करता रहा। २६ वर्ष की अवस्था में दूर देशों के भ्रमण के लिए निकल पड़ा। भ्रमण करते-करते तिब्बत देश में पहुँचा। यहाँ लिंटू नदी को पार करते समय नदी के तीव्र प्रवाह में गिर पड़ा। प्रवाह में बहते-बहते दूर निकल गया और मृत्यु समीप ही थी कि किसी प्रकार तट पर लग गया। किन्तु वहाँ और भी भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ा। किनारे की खोहों और दरारों में विषैले नाग और भयानक जन्तु भरे पड़े थे। ज्यों-त्यों प्राण बचाकर उसने पुनः यात्रा प्रारम्भ की और चलते-चलते ताशकंद, समरकंद, बलख, तुषार, पुरुषपुर (पेशावर) होता हुआ वह तक्षशिला (ट्र्याशिलो) पहुँच गया। वहाँ का विस्तृत वर्णन हुएनसांग ने इस प्रकार लिखा है।]

तक्षशिला का राज्य लगभग २००० ली 'विस्तृत है और राजधानी का क्षेत्रफल १० ली है। राजवंश नष्ट हो गया है। बड़े-बड़े लोग बलपूर्वक अपनी सत्ता स्थापित करने में लगे रहते

हैं। पहले यह राज्य कपिशा के अधीन था परन्तु थोड़े दिन से कश्मीर के अधिकार में हुआ है। यह देश उत्तम पैदावार के लिए प्रसिद्ध है। फसलें सब अच्छी होती हैं। नदियाँ और सोते बहुत हैं, तथा फल-फूलों की भी अधिकता है। जलवायु स्वभावानुकूल है। मनुष्य बली और साहसी हैं, तथा रत्नत्रयी को मानने लगे हैं। यद्यपि संघाराम बहुत हैं, परन्तु सब-के-सब उजड़े और टूटे-फूटे हैं, जिनमें साधकों की भी संख्या अल्प है। ये लोग महायान के अनुयायी हैं।

राजधानी के पश्चिमोत्तर में लगभग ७० ली की दूरी पर नाग-राज इलापत्र का तालाब है। इस तालाब का घेरा १०० कदम से अधिक नहीं है। पानी मीठा और उत्तम है। अनेक प्रकार के कमल के फूल अपने सुहावने रंग से किनारे की शोभा को बढ़ाते हैं। लोगों को जब कभी वृष्टि अथवा सुकाल होने की आवश्यकता पड़ती है, तब वे अवश्य तालाब के किनारे श्रमण के पास जाते हैं और अपनी कामना निवेदन करने के उपरान्त उँगलियाँ चटकाते हैं, जिससे मनोरथ पूरा होता है। यह प्रथा प्राचीन समय से लेकर अब तक चली आती है।

नाग तालाब के दक्षिण-पूर्व ३० ली जाने पर हम दो पहाड़ों के मध्यवर्ती मार्ग में पहुँचे, जहाँ पर एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यह लगभग १०० फीट ऊँचा है। यही स्थान है, जहाँ के लिए शाक्य तथागत ने भविष्यद्वाणी की थी कि कुछ दिनों बाद जब भगवान-मैत्रेय अवतार धारण करेंगे तब

चार रत्नकोष भी प्रकट होंगे, जिनमें से यह उत्तम भूमि भी एक होगी। इतिहास से पता चलता है कि जब कभी भूचाल होता है अथवा आस-पास के पहाड़ हिलने लगते हैं, तब भी इस स्थान के चारों ओर १०० कदम तक पूर्ण निश्चलता रहती है। यदि मनुष्य मूर्खतावश इस स्थान को खोदने का उद्योग करते हैं तो पृथ्वी हिलने लगती है, और खोदने वाले सिर के बल गिर-कर धराशायी हो जाते हैं। स्तूप के बग़ल में एक संघाराम उजाड़ दशा में है। बहुत समय से यह निर्जन है। एक भी साधु इसमें नहीं रहता। नगर के उत्तर १२ या १३ ली की दूरी पर एक स्तूप राजा अशोक का बनवाया हुआ है। धर्मोत्सव के दिन यह स्तूप चमकने लगता है, तथा देवता इस पर पुष्प बरसाते हैं, और स्वर्गीय गान की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इतिहास से पता चलता है कि प्राचीन काल में एक स्त्री भयानक कुष्ठरोग से पीड़ित थी। वह स्त्री चुपचाप स्तूप के निकट आई और कुछ पूजा-अर्चा के उपरान्त अपने पापों की क्षमा माँगने लगी। उसने देखा कि स्तूप का खुला भाग विष्ठा और करकट से भरा हुआ था, इस कारण उसने उस मलिनता को हटाकर अच्छी तरह से स्थान को धोया और फूल तथा सुगंधित वस्तुओं को छिड़ककर थोड़े से कमल पुष्प भूमि पर फैला दिए। इस सेवा के प्रभाव से उसका दारुण कष्ट दूर हो गया और सम्पूर्ण शरीर से मनोहरता की झलक तथा कमल पुष्प की महक आने लगी। यही कारण है कि यह स्थान अत्यन्त सुगंधित है। प्राचीन समय में भगवान् तथागत

इस स्थान पर निवास करके बोधिसत्त्व अवस्था का अभ्यास करते थे। उस समय वह एक बड़े प्रदेश के राजा थे उसका नाम चन्द्र-प्रभ था। बोधि-दशा को बहुत शीघ्र प्राप्त करने की उत्कण्ठा से उन्होंने अपने मस्तक को काट डाला था। यह भीषण कर्म उन्होंने लगातार अपने एक हजार जन्मों तक किया था। इस स्तूप के निकट ही एक संघाराम है, जिसके चारों ओर की इमारत गिर गई है और घास-पात से आच्छादित है। भीतरी भाग में थोड़े से साधु निवास करते हैं। इस स्थान पर सौतान्त्रिक सम्प्रदायी कुमारलब्ध शास्त्री ने प्राचीन समय में कुछ ग्रन्थ निर्माण किए थे।

वह साहसी यात्री तक्षशिला का अवलोकन कर भारत-भ्रमण के निमित्त आगे बढ़ा। तक्षशिला से कश्मीर जाने के लिए उसे बीहड़ दर्रों को पार करना पड़ा। कश्मीर राज्य में वह दो वर्ष तक अध्ययन करता रहा। उस समय कश्मीर का राजा महा-यान मत का अनुयायी था और धर्म-सम्बन्धी कार्यों में उत्साह सहित भाग लिया करता था। हुएनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में कश्मीर की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यह स्थान अध्ययना-ध्यापन का केन्द्र था।

कश्मीर की यात्रा समाप्त करके हुएनसांग आगे बढ़ा। वह पुंछ, राजौरी और स्यालकोट आदि स्थानों में भ्रमण करता हुआ दस्युगणों से घिर गया। तस्करों ने उसे लूट लेना चाहा किन्तु इन सब विपत्तियों का सामना करता हुआ वह निरन्तर अग्रसर

होता रहा। जालंधर पहुँचकर उसने मथुरा का मार्ग पकड़ा और वहाँ से पुनः थानेसर लौट आया।

भारत के पश्चिमी भागों की यात्रा समाप्त करके हुएनसांग पूर्व की ओर बढ़ा। पांचाल (रुहेलखंड) होता हुआ सम्राट् हर्ष-वर्द्धन की राजधानी कन्नौज में पहुँचा। कन्नौज में कुछ दिन ठहरकर प्रयाग होते हुए, वह अयोध्या पहुँच गया। इस यात्रा में उसे भयंकर डाकुओं ने पकड़ लिया। ये डाकू दुर्गा के उपासक थे और प्रतिवर्ष नवरात्र में नरबलि किया करते थे। हुएनसांग का दिव्य शरीर देखकर वे डाकू अत्यन्त प्रसन्न हुए और बलि चढ़ाने का निश्चय कर उसे बाँधकर ले चले। हुएनसांग ने मुस्कराते हुए डाकुओं से कहा कि मेरा शरीर भगवती की बलि के लिए काम आएगा, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता है किन्तु मैं चीन देश से इतनी दूर बोधिवृक्ष का दर्शन करने और धार्मिक ग्रन्थों की खोज के लिए आया हूँ। मुझे केवल इसी बात का दुख है कि मैं देवी पर बलि होने के पूर्व अपना ध्येय पूर्ण न कर सका। हुएनसांग की वार्ता का इतना प्रभाव पड़ा कि डाकुओं में दो दल हो गए। एक दल उसे मुक्त कर देने के पक्ष में था किन्तु दूसरा वर्ग उसकी बलि चढ़ाना चाहता था। डाकुओं का सरदार दूसरे वर्ग में से था। वह हुएनसांग को उस वन-प्रदेश में ले गया जहां पूजा की सामग्री प्रस्तुत थी और बलिदान की प्रतीक्षा की जा रही थी। डाकुओं ने हुएनसांग को एक खम्भे से बाँध दिया। खम्भे से बँधते समय भी हुएनसांग की आकृति पर प्रसन्नता

अब हुएनसांग ने जालंधर के राजा उधित के साथ सीमांत को प्रस्थान किया। वह जालन्धर में एक महीना ठहरा और तदुपरांत हाथी पर हस्त-लिखित पुस्तकें लादकर स्वदेश को चल पड़ा। ओहिंद के पास सिंधु को पारकर बामियाँ के दर्रे से कपिशा पहुँचा। वहाँ से काशगर, यारकंद, खोतान होता हुआ ६४५ ई० में स्वदेश की राजधानी में प्रविष्ट हुआ।

हुएनसांग इस प्रकार १६ वर्ष तक भ्रमण करने के उपरान्त उस सम्राट् ताँग के राज्य में पहुँचा, जिसने प्रारम्भ में इस भिक्षु को चीन देश से बाहर जाना वर्जित कर दिया था। स्वदेश में पहुँचने पर जितना अभिनन्दन इस बौद्ध-भिक्षु का हुआ उतना कदाचित् किसी सम्राट् का भी न हुआ होगा।

हुएनसांग वास्तव में एक असाधारण यात्री था। आज से तेरह सौ वर्ष पूर्व जब सर्वत्र घोर जंगल में हिंसक जन्तुओं का राज्य था, एकाकी यह भिक्षु चीन से चलकर सहस्रों मील की लम्बी यात्रा करके भारत पहुँचा।

घोर वनों, दुर्गम घाटियों और प्रखर धार वाले नदी-नदों को पार करता हुआ यह साहसी यात्री अपनी ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिए नाना प्रकार के कष्ट झेलता रहा। कभी डाकुओं ने लूटना चाहा तो कभी विकट हिंसक जन्तु इसके प्राणों के प्यासे बने।

भारत के साथ चीन का सम्बन्ध घनिष्ठ करने वाला यह बौद्ध-भिक्षु भोजपत्र पर लिखी हुई संस्कृत तथा प्राकृत की ६५७

पुस्तकें अपने साथ ले गया। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की सुवर्ण, रजत, स्फटिक तथा चन्दन की अनेकों रम्य मूर्तियाँ, विविध चित्र, भगवान बुद्ध के अवशेष इत्यादि चीन में पहुँच गए। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन और भारत एक-दूसरे की संस्कृति से परिचित होते रहे।

कार्थेज की समृद्धि रोम के लिए असह्य होने लगी थी। जैसे यूनान ने फीनीशियन को विध्वंस कर डाला था उसी प्रकार कला-कौशल में समुन्नत कार्थेज को रोम के हाथों ध्वस्त होना पड़ा था। कार्थेज को विध्वंस करने के लिए रोम को भीषण युद्ध करना पड़ा। कार्थेज नाविकों का देश था। इनकी जहाज़ी शक्ति अत्यन्त प्रबल थी। इसलिए कार्थेज के साथ संग्राम करने के लिए रोम को अपनी जहाजी शक्ति प्रबल करने की आवश्यकता पड़ी। जिस समय उसने कार्थेज के साथ युद्ध प्रारम्भ किया था उस समय उसके पास जहाज़ों का सर्वथा अभाव ही था।

अतः पहले-पहल रोम में ईसा से २६२ वर्ष पूर्व फीनीशियनों का अनुकरण कर जहाज-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ था। अनेकों जहाज़ी बेड़ों से सुसज्जित हो जाने पर कई भयंकर युद्धों के पश्चात् ईसा से १४६ वर्ष पूर्व कार्थेज का विनाश हुआ। इस युद्ध के कारण कार्थेज-जैसे समृद्धिशाली देश पर सदा के लिए तुषारपात हो गया। चार वर्ष के भयंकर युद्ध में कार्थेज के सात लाख निवासियों में से केवल ५०००० व्यक्ति बचे थे। शेष सभी रोम की कोपाग्नि में भस्मीभूत हो गए। इस प्रकार संसार से एक गौरवशाली जाति का सदा के लिये लोप हो गया।

फ़ीनीशियनों का अन्त हुआ और साथ-ही-साथ यूनान और रोम की सभ्यता का भूमण्डल पर प्रसार होने लगा। परन्तु इन देशों के अन्वेषकों ने भौगोलिक महत्त्व रखने वाली किसी भी वस्तु का अनुसन्धान नहीं किया। इनके जहाज़ों का कार्य-क्षेत्र

भूमध्य सागर तक ही सीमित रहा। केवल पिथियस नामक एक यूनानी ने जिब्राल्टर को पार कर कुछ लम्बी यात्रा की थी। अपने अभ्युदय काल में भूमध्य सागर के तटों पर कई स्थानों पर यूनान वालों ने अपने उपनिवेश बसाये थे। उनमें से फ्रांस के दक्षिणी तट पर रोम नदी के मुहाने पर स्थित एक मार्सेलीज भी था। इसी उपनिवेश से पिथियस ईसा से चार शताब्दी पूर्व जिब्राल्टर को पार कर उस ओर के देशों का पता लगाने के लिए भेजा गया था जिससे उन देशों से व्यापार हो सके। पिथियस जिब्राल्टर का मुहाना पार करके अटलांटिक महासागर में किनारे-किनारे चलता हुआ बिस्के की खाड़ी होकर इंग्लैण्ड पहुँचा। वहां से वह उत्तर की ओर चला और एक ऐसे भूखण्ड में पहुँचा जिसे वह थ्यूल लिखता है। थ्यूल की वास्तविक स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं है परन्तु जहां तक अनुमान लगाया जा सकता है, यह इंग्लैण्ड के उत्तर में स्थित शटलैंड द्वीप वा उत्तर की ओर स्थित बड़ा द्वीप होगा।

अब पिथियस थ्यूल से आगे बढ़ा और ध्रुव-प्रदेश में पहुँचा। उसकी यह यात्रा कुतूहल से परिपूर्ण थी। उसने लिखा है कि ध्रुव-प्रदेश में सूर्य रात-दिन कभी भी अस्त न होता था। जैसे ही वह और आगे बढ़ता गया उसे भगवान भास्कर के दर्शन दुर्लभ होने लगे। अब उसे सूर्य रात-दिन अस्त ही दिखाई देने लगा। इस उल्लेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह ध्रुव-वृत्त को पार कर ध्रुव-प्रदेश में पहुँच गया होगा। जैसे-

जैसे वह उत्तर की ओर बढ़ता गया उसे कुतूहल उत्पन्न करने वाले लक्षण दृष्टिगत होने लगे। एक स्थान पर सूर्य का सदा उदय ही दिखाई पड़ता तथा दूसरे स्थान पर सूर्य के प्रकाश का सर्वदा लोप उसको विस्मित कर रहा था। वह आगे बढ़ता गया और एक ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ से उसे समुद्र-तल के ऊपर एक लम्बी-चौड़ी और अन्धकार से परिपूर्ण दीवार दिखाई पड़ने लगी। इस स्थान पर पहुँच कर उसके जहाज की गति अवरुद्ध हो गई। इतना ही नहीं बल्कि उसका लंगर भी पानी पर ही तिरता हुआ दिखाई पड़ने लगा। उसके इस विवरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अधिक सर्दी पड़ने के कारण ध्रुव-प्रदेश जम गया होगा, जिसके कारण इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई होगी। पिथियस शीतोष्ण कटिबंध का एक निवासी था। अतः ध्रुव-प्रदेश का यह रोमांचकारी दृश्य उसे कितना आशंकित करता रहा होगा उसके अनुमान-मात्र से ही कलेजा काँप जाता है।

यूनान देश का निवासी पिथियस ही इस देश का एकमात्र ऐसा व्यक्ति था जिसने भौगोलिक ज्ञान में वृद्धि की परन्तु फीनीशियन लोगों की तरह इन लोगों को सुदूर देशों में यात्रा करने का साहस नहीं हुआ। अतः उनका भौगोलिक ज्ञान भी बहुत ही सीमित रहा। पृथ्वी चपटी या चक्के की भांति गोल नहीं वरन् नारंगी की तरह गोल है। गणित की सहायता से पृथ्वी की परिधि को भी उन्होंने माप लिया था। पृथ्वी का मानचित्र भी

लोगों ने तैयार किया था, यद्यपि उसमें अशुद्धियां भी बहुत थीं। मानचित्र में एक अशुद्धि यह भी थी कि कैस्पियन सागर को उत्तरी महासागर से मिला हुआ दिखाया गया था।

रोम-साम्राज्य का विस्तार भी भौगोलिक ज्ञान बढ़ाने में सहायक हुआ। यद्यपि इसका अभ्युदय-काल भौगोलिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखता तथापि इसकी उत्तरोत्तर समृद्धि भौगोलिक ज्ञान-विस्तार में सहायक हुई। रोम के श्री-सम्पन्न विलासी पुरुषों के आमोद-प्रमोद के लिए सुदूर देशों से वस्तुएँ लाई जाती थीं। इन व्यापारिक भाषाओं के कारण ही देश-विदेश के ज्ञान में वृद्धि हुई।

ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी भौगोलिक ज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्व रखती है। अनेक विद्वानों ने भौगोलिक ज्ञान के विस्तार करने में योग दिया। इन सभी विद्वानों में टालेमी का नाम उल्लेखनीय है। उसने भी पृथ्वी का आकार नारंगी की भाँति गोल माना है। टालेमी ने एक मानचित्र भी बनाया जिसका लोगों ने बहुत दिनों तक उपयोग किया।

मानचित्र बनाते समय टालेमी को पृथ्वी के सम्बंध में ठीक-ठीक ज्ञान न था, अतः उसने कई स्थानों पर कल्पना से भी काम लिया था। उसने अपने नकशे में भारतमहासागर को भूमि से घिरे हुए एक समुद्र की भाँति खींचा था, जिसके दक्षिण में एशिया और अफ्रीका महाद्वीप से मिला हुआ एक और महाद्वीप था। टालेमी के मतानुसार पृथ्वी वृत्ताकार और चपटी है। उसने

यह भी लिखा है कि इस पृथ्वी को चारों ओर समुद्र गोलाई में घेरे हुए है। पृथ्वी के विषय में होमर का भी यही मत था। उसका यह मत हिब्रू लोगों से बहुत कुछ साम्य रखता है। हिब्रू लोग भी इस बात में विश्वास करते थे कि पृथ्वी चपटी है और इसके चारों ओर समुद्र प्रवाहित हो रहा है।

हिरोडोटस यूनान देश का एक दूसरा प्रसिद्ध यात्री हुआ है। इसका अनुसन्धान-काल ईसा से पांच शताब्दी पूर्व माना जाता है। यह एक इतिहास-वेत्ता भी था। इतिहास-लेखन का कार्य सर्वप्रथम इसने ही यूरोप में प्रारम्भ किया था। यूनान, इजियन सागर के द्वीप, एशियाई कोचक प्रायद्वीप, मिस्र, अरब, फारस और भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग का हिरोडोटस ने भ्रमण किया और उसका वर्णन सरस भाषा में किया है। अपनी यात्रा के विवरण में उसने अपनी आँखों से देखे हुए अनेक दृश्यों का वर्णन किया है जो यथार्थ रूप में आज भी वर्तमान है।

ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व यूनान के सम्राट् सिकन्दर महान् ने एशियायी कोचक, फारस और अफ्रीका के कुछ भाग पर अधिकार कर भारत के पश्चिमोत्तर भाग में विजय की कामना से प्रवेश किया। उस समय एशियायी देशों का यूरोप के देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। इस कारण भी लोगों के भौगोलिक ज्ञान में समुचित वृद्धि हुई। सिकन्दर की इस यात्रा के अनन्तर लोगों ने निरन्तर अपनी भौगोलिक ज्ञान-वृद्धि करने का प्रयास किया। बाद में भौगोलिक स्थितियों के अनुसन्धान से होमर और हिब्रू

के मत के विरुद्ध पृथ्वी का आकार गोल माना गया ।

उपर्युक्त विवरण प्राचीन यूरोप के अन्वेषकों का है । सिकन्दर के पश्चात् आजतक अनेक अन्वेषकों ने संसार के विभिन्न भागों में भ्रमण किया । आज पृथ्वी का कोना-कोना छान डाला गया है । समुद्र के अन्तस्तल से लेकर हिमालय की उच्चतम चोटी तक का अन्वेषण करने के लिए यात्री प्राणों को हथेली पर लेकर फिर रहे हैं । आधुनिक अन्वेषकों का वर्णन अन्य पाठों में दिया जा रहा है ।

कोलम्बस के पूर्व अमेरिका की खोज

भ्रमवश लोग कोलम्बस को अमेरिका का सर्वप्रथम अन्वेषक मानते हैं। परन्तु इससे पूर्व भी लोगों ने अमेरिका का पता लगाया था।

मैक्सिको में बौद्ध-धर्म के चिह्न मिलते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि भारतीय आज से कई सौ वर्ष पूर्व ही अमेरिका महाद्वीप की खोज कर चुके थे। भारतीयों के कई वर्ष पश्चात् एक यूरोपीय जाति भी (कोलम्बस की खोज से कई सौ वर्ष पूर्व) पूर्वी समुद्री-तट पर पहुँच चुकी थी। इस जाति की प्रसिद्धि वाइकिंग नाम से थी।

उत्तरी लोगों का निवास-स्थान स्कैंडिनेविया प्रायद्वीप था जो नार्वे और स्वीडन को मिलाकर बनाया गया था। इस प्रायद्वीप में बहुत से पथरीले समुद्र-तट के कटाव हैं। ये कटाव फियोर्ड वा विक नाम से प्रसिद्ध हैं। फियोर्ड के तट पर अपना निवास-स्थान बनाने के कारण यहाँ के निवासी वाइकिंग कहलाते हैं। उत्तर में स्थित होने के कारण यहाँ के निवासियों को नार्थमैन अर्थात् उत्तरी लोग कहते हैं।

नार्थमैन का प्रथम मूलनिवास-स्थान काला सागर का तट माना जाता है। यहीं से ये लोग स्कैंडिनेविया में जा बसे। यह अत्यन्त शीतल प्रदेश है। शीत कटिबन्ध के समीप स्थित है और

उत्तरी ध्रुव की हवा जो बर्फ को स्पर्श कर बहती है इसे और भी शीतल बनाती रहती है। यहाँ की भूमि पथरीली होने के कारण उपज के लिए अनुपयुक्त है। यही भूमि नार्थन की निवास-भूमि बनी। यहाँ के निवासी अपनी वीरता और साहस के लिए सुविख्यात थे। वीरता का रक्त इनकी नसों में पूर्ण रूप से प्लावित था। युद्ध-भूमि में मर जाना इनके लिए गौरव की बात थी। इनका विश्वास था कि अस्त्र-शस्त्रों से विद्ध होकर मर जाने से देवता प्रसन्न होते हैं। अतः जब इनकी स्वाभाविक मृत्यु समीप आती है तो अपना एक अङ्ग तलवार से वेध डालते हैं, जिससे इनके देवता प्रसन्न हो जायँ। इस देश का राजा जब वृद्ध हो जाता तब उसके लिए एक जहाज बनाया जाता था। उसमें राजा को बिठा दिया जाता था। इसके अनन्तर उसमें आग सुलगा दी जाती थी। यह जहाज भस्म होकर राजा के शव के साथ समुद्र के गर्भ में चला जाता था।

इस देश में उपजाऊ भूमि की कमी थी, परन्तु लकड़ी का बाहुल्य था। अतएव लोगों ने अपनी जीविका उपार्जन करने के लिए जहाज-निर्माण का व्यवसाय अपनाया। इन जहाजों को ये लोग समुद्र में दौड़ाते थे। यद्यपि उत्तरी लोगों के पूर्व दक्षिणी यूरोप में बहुत सी जातियाँ जहाज-निर्माण तथा समुद्र में संचालन का कार्य करती रहीं तथापि इनकी समता ये जातियाँ कभी न कर सकीं। इनका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। दक्षिणी यूरोप के निवासियों ने अपने जहाजों के

संचालन का कार्य-क्षेत्र जिस समुद्र में बनाया था वह स्थल से घिरा होने के कारण प्रशान्त था। अतः इन लोगों को संचालन करने में विशेष साहस अपेक्षित न था। इसके विपरीत उत्तरी लोगों ने अपने जहाज-संचालन का कार्य-क्षेत्र एक उद्धत समुद्र को बनाया। यह प्रचण्ड लहरों से युक्त एक महासागर था! इसकी प्रखर लहरों के वेग के सम्मुख साहसी नाविकों का भी साहस डिग जाता था। फिर भी उत्तरी लोगों ने सुदृढ़ जहाजों का निर्माण कर इसी महासागर में साहसपूर्वक जहाज-संचालन का कार्य किया।

नार्थमेन या उत्तरी लोगों में यह प्रथा थी कि वे जिस जहाज का भी संचालन करते रहते थे उसी के साथ समाधिस्थ हो जाते थे। खुदाई के उपरान्त कई-एक जहाज इन समाधियों से निकाले गए हैं। इनके नग्न रूप को देखकर इनके वास्तविक रूप का पता लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन जहाजों का चित्र भी चिकने पत्थरों पर खुदा हुआ मिलता है, जिसे उत्तरी लोगों ने स्वयं खींचा था। इन सबको देखकर यह सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि इन लोगों ने पोत-निर्माण विद्या फीनिशियन लोगों से सीखी थी। परन्तु इन्होंने अपने कौशल और पुरुषार्थ से अपने जहाजों को और भी विशद रूप दिया। ये लोग उत्तरी महासागर में तट से दूर जल में यात्रा करते हुए चले जाते थे। समुद्र-यात्रा में इनकी सफलता निःसन्देह सराहनीय है। इनके समय में मार्ग

प्रशस्त करने के लिए न तो मानचित्र ही थे न ही दिक्सूचक यंत्र ही थे, तथापि वे लोग साहसपूर्वक यात्रा करते रहे। समुद्र-तट के समीप तो वे अपने जहाजों की स्थिति जान लेते थे परन्तु अगाध पानी में इन्हें दिशा-भ्रम हो ही जाया करता था। ध्रुवतारे के भी ज्ञान से भी वे वंचित थे। इसके उपरान्त इनकी यात्रा के स्थान सदा कुहरों से घिरे रहते थे। इन कठिनाइयों की उपस्थिति में भी इन्होंने यूरोप से आइसलैंड, ग्रीनलैंड और अमेरिका तक भ्रमण किया।

कोलम्बस से पाँच शताब्दी पूर्व ही इन लोगों के जलयानों ने अटलांटिक महासागर को पार कर नई दुनिया का पता लगाया था। इन विलक्षण व्यक्तियों की यात्रा का वर्णन सुनकर सबको आश्चर्य होता है। इन्होंने पोत-संचालन के दो साधन अपनाये थे—एक तो डांड खेना, दूसरा पाल तानकर हवा के सहारे चलना। इनके डांड़ों की संख्या इतनी होती थी कि तीन-चार व्यक्तियों के चलाने की आवश्यकता पड़ती थी। इनके पाल अनेक सुन्दर-सुन्दर चित्रों से सुसज्जित होते थे।

अपने पथ-निर्देश के लिए जो साधन इन्होंने अपनाये थे वे भी विचित्रता से परिपूर्ण थे। अपने साथ ये लोग जहाज पर पक्षी रखते थे। इसका वर्णन बौद्ध जातकों में भारतीय नाविकों के विषय में भी आता है। जब इन्हें स्थल पर उतरने की आवश्यकता होती थी तो एक पक्षी को उड़ा देते थे। जिस ओर यह पक्षी उड़ता था उस ओर ही ये भी अपने जहाजों का रुख कर देते

न पड़े। अतः वह यह द्वीप छोड़कर उत्तर की ओर चला। दो दिन की यात्रा के पश्चात् उसे फिर एक स्थल भाग दिखाई पड़ा। इसमें भी वृक्षादि बहुतायत से दिखाई पड़े। यह भी ग्रीनलैंड का न होना ही प्रगट करता था। अतः उसने उत्तर की ओर प्रस्थान किया। तीन दिन की यात्रा के पश्चात् उसे स्थल दिखाई पड़ा पर वहाँ पर भी न उतरकर वह आगे बढ़ा। चार दिन की और यात्रा के उपरान्त उसे ग्रीनलैंड मिला।

अपनी ग्रीनलैंड की यात्रा में जार्नी को तीन बार स्थल दिखाई पड़ा। इन स्थानों के नाम और स्थिति के विषय में ठीक बताया नहीं जा सकता; फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि पहला स्थान संयुक्त राष्ट्र के बोस्टन नगर के नीचे का समुद्र-तट, दूसरा नोवा स्कोटिया और तीसरा न्यूफाउंडलैंड होगा। इन स्थानों के विषय में यद्यपि यथार्थ ज्ञान नहीं है, तथापि यह तो निश्चय ही है कि अमेरिका महाद्वीप तक पहुँचने वाला पहला व्यक्ति जार्नी ही था।

कुछ काल तक ग्रीनलैंड में निवास करने के उपरान्त जार्नी नार्वे चला गया। अपनी ग्रीनलैंड की यात्रा में मिले हुए तीन स्थानों का वर्णन उसने वहाँ के लोगों से किया। लाल इरिक के पुत्र लीफ इरिकसन ने भी जार्नी की सभी बातों को सुना। उसे इन स्थानों को देखने की प्रबल उत्कंठा हुई। अतएव उसने जार्नी के जहाज को खरीद लिया तथा ३५ व्यक्तियों को साथ लेकर उन स्थानों का पता लगाने चल पड़ा।

सर्वप्रथम लीफ इरिकसन ग्रीनलैण्ड पहुँचा। वहाँ से उन्होंने अपनी यात्रा दक्षिण-पश्चिम की ओर प्रारम्भ की। प्रथम उन्हें एक बंजर भूमि मिली जो लैब्रेडर का तट था। तत्पश्चात् वे लोग न्यूफाउंडलैंड पहुँचे। आगे बढ़ने पर उन्हें नोवा स्कोटिया का स्थल मिला। इसके पश्चात् इन्हें अमेरिका महाद्वीप की विस्तृत भूमि मिली।

अमेरिका की भूमि अत्यन्त हरी-भरी थी। यहाँ अंगूर बहुत उत्पन्न होता था अतएव वे लोग वहीं उतर गए और उसका नाम भी वाइनलैण्ड रख दिया। जाड़े की ऋतु इन्होंने इस सुरम्य भूमि में बिताई। अमेरिका के सम्बन्ध में यात्रियों ने लिखा है कि यहाँ सूर्योदय ७॥ बजे होता है और सूर्यास्त ४॥ बजे। इस विवरण से सरलतापूर्वक इसका अक्षांश और देशांतर ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार यह स्थान नोवा स्कोटिया के समीप फाल नदी के तट पर स्थित प्रतीत होता है।

शरद् ऋतु बीत जाने पर लीफ इरिकसन अपने साथियों के साथ ग्रीनलैण्ड चला गया। ग्रीनलैण्ड के लोगों से उसने इस देश का हाल सुना था। इससे उसके भाई थार्वाल्ड को उस देश को देखने की अत्यन्त उत्कण्ठा हुई और वह अपने भाई का जहाज लेकर वह देश देखने स्वयं चल पड़ा। इसकी यात्रा का काल सन् १००२ ई० था। वह अपने भाई से सात वर्ष बाद चला था। यहाँ के मूल निवासियों से उसका संघर्ष हुआ। युद्ध में इस पक्ष की विजय तो हुई पर विरोधी पक्ष से छूटे हुए बाण ने थार्वाल्ड

की इहलीला को वहीं पर समाप्त कर दिया। वह समाधिस्थ कर दिया गया। शेष साथी ग्रीनलैण्ड लौट आए।

थार्वाल्ड की यात्रा का एक सुदृढ़ प्रमाण यह भी है कि कोलम्बस के अमेरिका पहुंचने के पश्चात् जब वहां के निवासियों ने यहाँ की भूमि को बसाना प्रारम्भ किया तो खोदते समय उन्हें कवच के साथ एक मनुष्य का अस्थि-पंजर मिला। निस्सन्देह ही यह थार्वाल्ड का अस्थि-पंजर रहा होगा।

यद्यपि थार्वाल्ड की मृत्यु हो गई तथापि वहाँ बसने का साहस उत्तरी लोगों ने नहीं छोड़ा। सन् १००६ में थार्फिन कार्लसेफाइन नाम का एक सरदार नार्वे से ग्रीनलैण्ड आया और गुडरिड नाम की एक स्त्री से विवाह किया। अगले वर्ष अपनी पत्नी तथा अन्य चार औरतों तथा १५१ पुरुषों को साथ लेकर वह अमेरिका द्वीप गया। इसे भी वहाँ के मूल निवासियों के साथ

प्रकोप हुआ। यह रोग आइसलैण्ड, ग्रीनलैण्ड और वाइनलैण्ड तक फैल गया। इससे बहुत बड़ा नरसंहार हुआ। अब उपनिवेशों में भ्रमण करने के लिए साहसी नाविक ही नहीं रहे। धीरे-धीरे इन उपनिवेशों का लोप होने लगा।

समुद्र-विजयी वीर

संसार में साधारण रीति से 'बहादुर' उसी को कहा जाता है, जो घमासान लड़ाई में पुर्जे-पुर्जे कटकर भी पैर पीछे नहीं हटाता। किन्तु लड़ाई या मुठभेड़ में दृढ़ता से टिके रहने वाले के सिवाय और तरह के भी बहादुर होते हैं। बड़ी-से-बड़ी विपत्ति में धीरज रखने वालों को भी बहादुर कहते हैं।

घने-से-घने जंगल में पहुँचने पर शेर की दहाड़ सुनकर जिसके भुजदण्ड नहीं फड़कते हैं, बीहड़-से-बीहड़ पहाड़ी घाटी में थक-भटक कर भी जो पहाड़ की ऊंची चोटियों पर चढ़ने का साहस नहीं छोड़ता, जलती हुई भट्टी की सी तप्त मरुभूमि में जल और छाया के बिना दुःसह दुःख सहकर भी जो उसे पार करके ही दम लेता है, भूख-प्यास और सर्दी-गर्मी के कष्टों को तिनका बराबर समझ कर जो अपने मंसूबे को पूरा करके ही कल लेता है तथा अगाध समुद्र की तूफानी लहरों के धक्के पर धक्के खाते रहने पर भी जो किनारे पहुँचने का हौसला नहीं छोड़ता, वह भी बहादुर ही कहलाता है—बल्कि उसी को सच्चा बहादुर कहना चाहिए। आज हम तुम्हें कुछ ऐसे ही सच्चे बहादुरों की कहानियाँ सुनाते हैं।

ऐसे सच्चे बहादुरों में इटली देश के मार्कोपोलो का नाम सबसे पहले लिया जायगा। उसका जन्म 'वेनिस' नगर में हुआ

था। वह बचपन से ही बड़ा बहादुर था। लड़कपन में ही अपने पिता और चचा के साथ चीन गया था। चीन की यात्रा में उस वीर बालक ने बड़े-बड़े बीहड़ पहाड़ और लम्बे-चौड़े रेगिस्तान हँसते-हँसते पार किए थे। कहीं कोसों तक फैली हुई ऊबड़-खाबड़ बर्फीली ज़मीन थी, तो कहीं बिना ओर-छोर की धधकती मरुभूमि; पर उत्साही बालक ने कहीं भी हिम्मत न छोड़ी। वह बड़ी बहादुरी और उमंग के साथ अपने बड़ों के पीछे-पीछे चलता गया।

वहां चीन के दरबार में दाखिल होने पर राजा उसकी छोटी अवस्था और ऐसी गजब की बहादुरी देखकर मुग्ध हो गया। अपने यहाँ उसे नौकर रख लिया। वह भी हौसले से राजा का हुक्म बजाने लगा। उसके उत्साह से संतुष्ट हो राजा ने उसे कोचीन-चीन और भारतवर्ष में अपना राजदूत बनाकर भेजा, मानो इसी बहाने उसकी बहादुरी की परीक्षा ली, क्योंकि इन देशों में रास्तों का कहीं पता ही न था। कहीं नदी, तो कहीं पहाड़, कहीं जंगल तो कहीं रेगिस्तान। कहीं सीधी पगडंडी तक नहीं थी। लू और बर्फ, बाघ और सिंह, खोह और नदी-नाले, अजगर और कुश-कांटे—खासा यमपुरी का रास्ता था। फिर भी मार्कोपोलो अपनी सच्ची बहादुरी के बल पर उस कठिन परीक्षा में खूब सफल हुआ। उन देशों से सकुशल लौटने पर वह बड़ा प्रसन्न था। बीहड़ रास्ते की थकावट की धुंधली-सी रेखा भी उसके चेहरे पर न थी। उसने राजा को वहाँ का बड़ा

रोचक वर्णन सुनाया। उन्होंने खुश होकर उसे धन दिया और खूब शाबासी भी दी।

तेईस वर्ष के बाद 'वेनिस' लौटकर 'मार्कोपोलो' ने जब अपनी उस विकट यात्रा का वर्णन लिखा, तब उसे सुनकर उसके देश वाले बड़े चकित हो उठे। उन्हें किसी तरह विश्वास ही न होता था कि चीन और भारत के समान बड़े देश भी पृथ्वी पर कहीं मौजूद हैं। वे कुएँ के मेंढक की तरह अपने ही देश के बारे में यह समझे बैठे थे कि बस पृथ्वी का विस्तार इतना ही है। गूलर फल के कीड़ों के समान उन्हें बाहरी दुनिया की कुछ खबर ही न थी।

अस्तु, अपने उस वर्णन में 'मार्कोपोलो' ने सुन्दर-सुन्दर रेशमी कपड़ों, मूल्यवान हीरे-जवाहिरातों, बढ़िया-बढ़िया स्वादिष्ट भोजन और उत्तम सुगन्धियों की जो विचित्र चर्चा की थी उसे सब लोग केवल मन-गढ़ंत कहानी समझते थे। एक बार उसने अपने मित्रों को तथा जान-पहचानवालों को बड़े धूम-धाम से दावत दी। जब वे भोजन करने आये तब उसने अपने बाप-चचा के साथ बढ़िया बेशकीमती रंग-बिरंगे रेशमी कपड़े और आँखों को चौंधियाने वाले मणि-मोतियों के अनेक गहने पहन कर उनका स्वागत-सत्कार किया। तब उसके मित्रों की समझ में आया कि सचमुच वह ऐसे देशों में हो आया है, जो धन-जन से खूब भरपूर हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्त था। एक साहसी नाविक कोलम्बस भारत की खोज में पश्चिम से चलकर पहले-पहल अटलांटिक महासागर को पार करने में समर्थ हो चुका था। उसे भारत तो मिला नहीं, किन्तु एक नया महाद्वीप उसके हाथ लग चुका था। वह महाद्वीप अवशिष्ट संसार से असम्बद्ध होकर एक कोने में पड़ा हुआ था। अतः वह 'नई दुनिया' के नाम से विख्यात हुआ। उसके कुछ ही वर्ष पश्चात् वास्कोडिगामा ने अफ्रीका के दक्षिणी छोर को पार कर भारत पहुँचने का नया मार्ग ढूँढ निकाला। यह मार्ग अति लम्बा था, फिर भी यूरोपीय देशों के जलयान इस मार्ग से सीधे पहुँच सकते थे। अतः यूरोप से पूर्व की ओर यात्राएँ प्रारम्भ हो गईं। अटलांटिक महासागर में जलयानों का जाल दिखाई देने लगा।

मैगेलेन नामक प्रसिद्ध यात्री ने पहले-पहल नई दुनिया के दक्षिणी छोर को पार कर प्रशान्त महासागर में प्रवेश किया। अनेक प्राणघातक कठिनाइयों को झेलते हुए, उसने संसार के सामने अपनी महती शक्ति और धैर्य का ज्वलन्त उदाहरण रखा। वही प्रथम व्यक्ति था जिसने महासागर को पार किया। इस महासागर को पार करने का स्वप्न उससे पहले संसार ने देखा ही न था। मैगेलेन ने इस प्रकार सर्वप्रथम पृथ्वी की परिक्रमा कर संसार को चकित कर दिया। खेद है, कि पूर्ण परिक्रमा के कुछ पूर्व ही वह गोलोकवासी हो गया, तथापि उसका नाम स्वर्ण अक्षरों से अङ्कित रहेगा।

मैगेलेन के पश्चात् ही भिन्न-भिन्न यूरोपीय देशों ने समुद्र पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। इनका इतिहास अत्यन्त विस्तृत है। प्रतियोगिता और स्पर्धा के कारण सामुद्रिक यात्राएँ अधिकाधिक होती गईं। पुर्तगाल, हालैण्ड, फ्राँस और इङ्गलैण्ड के निवासियों ने एक-दूसरे से बढ़ जाने का भगीरथ प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि इङ्गलैण्ड सबसे बाजी मार ले गया। पूर्व और पश्चिम दोनों ओर महासागरों में पाल वाले जलयानों ने लम्बी-लम्बी यात्रायें प्रारम्भ कर दीं।

जल-यात्राओं के अभ्युत्थान में एक और ही वस्तु सहायक थी। प्राचीन-काल से ही समुद्री डाकुओं का नाम विख्यात था। कोलम्बस के पश्चात् समुद्री डाकुओं ने भी महासागर की यात्रा को आगे बढ़ाया। पर विशेषता तो यह थी कि डाके डालने वाले प्रतिष्ठित पुरुष हुआ करते थे, जिन्हें अधिक डाका डालने पर अधिक ऊँची पदवियाँ वितरित होती थीं। इस विषय में जान-हाकिन्स और फ्रांसिस ड्रेक का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उस समय स्पेन देश के जलयान बड़ी दूर-दूर की यात्रा करते थे। ये लौटते समय विदेशों से स्वर्ण, रजत तथा बहुमूल्य वस्तुएँ ले आया करते थे। इङ्गलैण्ड में उस समय महारानी एलिज़ाबेथ शासन कर रही थीं। उनके राज्य-काल में नाविक विद्या ने बड़ी उन्नति की। अनेक जलयान लम्बी यात्रा करते तथा विदेशों से धन लूट-पाट कर लिया करते थे। इन यात्राओं में फ्रांसिस ड्रेक की यात्रा [illegible] है। उसने पाँच जलयानों के बेड़े के साथ अपनी

प्रसिद्ध यात्रा के लिए सन् १५१७ में प्रस्थान किया। अटलांटिक महासागर उत्तीर्ण करके अमेरिका के रक्षित छोर पर मैगेलेन का मुहाना पार करते-करते उसका एक ही पेलिकन नामक जलयान सुरक्षित रह सका। अन्य सभी नष्ट-भ्रष्ट हो गए। प्रशान्त महासागर में पहुँचने पर ड्रेक को लूट का अवसर मिला। उस ओर अमेरिका के पश्चिमी तट पर स्पेन वालों के जलयान निःशङ्क थे। वे कभी स्वप्न भी न देख सकते थे कि अन्यदेशीय जलयान भी वहाँ पहुँच पायेंगे। अतः ड्रेक को स्पेनवालों के धन से भरे हुए कितने ही जलयानों को समुद्र-तट पर लूटने का अवसर मिला। कई स्थान पर तो इन कोषों को लूटते समय उनका कोई रक्षक भी न दिखाई दिया। बहुत से जलयान धन-सम्पन्न होने पर भी जनशून्य मिले। उनके नाविक स्थलखण्डों में निश्शङ्क घूम रहे थे।

इन कोषों को लूट लेने के बाद ड्रेक आगे बढ़ा। रास्ते में एक जलयान आते देख उस पर ड्रेक ने गोलियों की वर्षा की। जहाज़ में अपार धन था। ड्रेक को सोना-चाँदी भरने के लिए एक सप्ताह वहीं रुकना पड़ा। इस प्रकार स्पेन के जलयानों से ड्रेक का जलयान धन-पूरित हो गया।

इङ्गलैण्ड लौटने के लिए उसी मार्ग से जाना खतरे से खाली नहीं था, अतः उसने उत्तरी अमेरिका पाकर घर पहुँचने का निश्चय किया। उत्तर में सैनफ्रांसिस्को तक पहुँचने पर इतनी अधिक सर्दी पड़ने लगी कि उस ओर और आगे बढ़ने का साहस

नाविकों को न हो सका। अन्त में प्रशान्त महासागर पार करने का निश्चय हुआ। इस महासागर में वायु अनुकूल थी। लगातार ६८ दिनों तक महासागर में चलने के बाद पृथ्वी के दर्शन हुए। पुनः ड्रेक का पोत शनैः-शनैः पूर्वीय द्वीपों में पहुँच सका। वहाँ से हिंद महासागर पार कर उत्तमांश अन्तरीप होते हुए अटलांटिक दिखाई पड़ा। अन्त में १५८० ई० में पेलिकन के साथ ड्रेक इङ्गलैण्ड पहुँचा। पृथ्वी की परिक्रमा पूरी हो गई। ड्रेक को इङ्गलैण्ड के लिए असीम धन लाने पर प्रतिष्ठा-सूचक पदवी रानी एलिजावेथ ने दी।

समुद्र-यात्रा के अधिक प्रचार का कारण अमेरिका में अंग्रेजों का उपनिवेश स्थापित करना भी है। स्पेन-यात्रियों ने मध्य एवं दक्षिण अमेरिका में अपना जाल बिछा दिया। फिर भी नई दुनिया का उत्तरी भाग अछूता पड़ा रहा। इङ्गलैण्ड निवासियों ने रानी एलिजावेथ के राज्य-काल में इस भाग में उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न किया। सरहम्फरे गिल्वर्ट नाम के एक व्यक्ति ने १५८३ ई० में न्यूफाउण्डलैण्ड में एक उपनिवेश स्थापित किया, पर वहाँ अधिक सफलता न मिली। अतः असफल होकर अपने साथियों के साथ इङ्गलैण्ड लौट जाने के लिए बाध्य हुआ। मार्ग में तूफ़ान आया, जिसने सबको समुद्र के अन्तस्तल में छिपा लिया।

गिल्वर्ट के पश्चात दूसरे व्यक्ति ने उपनिवेश-स्थापन का प्रयास किया। इस यात्री का नाम सर वाल्टर रैले था। यह अपने

समय का एक महान् व्यक्ति था। वह बड़ा ही उत्साही और विद्वान् था। उसने अटलांटिक महासागर की कई बार यात्रा की। उसी ने नई दुनिया से पहले-पहल तम्बाकू और आलू इंगलैण्ड में पहुँचाया। उसने उत्तरी अमेरिका के वर्जीनिया प्रांत में सर्वप्रथम उपनिवेश स्थापित करने का उद्योग किया। यद्यपि रैले को पूर्ण रूप से अपने प्रयास में सफलता न मिली, तथापि कुछ वर्षों पश्चात् उसके निर्धारित स्थान पर अंग्रेजों का पहला उपनिवेश स्थापित हो गया।

इंगलैण्ड की सामुद्रिक शक्ति के अभ्युदय के पूर्व स्पेन की नाविक शक्ति सबसे अधिक बलवती थी। इंगलैण्ड को बढ़ते देख स्पेन ने अपनी शक्ति को बढ़ाना चाहा। स्पेन को पराजित करने के लिए रैले ने महत्व-पूर्ण कार्य किया। उसने स्पेन वालों की शक्ति को नष्ट कर इंगलैण्ड की समुद्री शक्ति को अधिक प्रबल कर दिया।

एलिजाबेथ की मृत्यु के पश्चात् प्रथम जेम्स इगलैण्ड का शासक बना। उसके काल की घटनाएं इतिहास में अधिक महत्व शालिनी हैं। उसे काल में यूरोप में धार्मिक हलचल मची थी। ईसाई कई दलों में विभक्त हो गए। एक दल प्राचीनता का उपासक था। उस को Roman Catholic रोमन कैथोलिक कहते थे। अन्य दल नवीन धर्म के अनुयायियों का था जो लूथर के पथ पर चल रहे थे। इन्हें (Protestant or Puritan) प्रोटेस्टेंट या प्यूरिटन कहते थे। दोनों में प्रायः वाद-विवाद चल

रहा था। जेम्स प्रथम कट्टर कैथालिक था। अतः प्यूरिटनों को बहुत कष्ट-सहन करना पड़ा। ये लोग बल प्रयोग से प्राचीन धर्म को स्वीकार नहीं कर सकते थे। अतः धार्मिक-विवाद के कारण बहुत से प्यूरिटनों ने इंगलैण्ड छोड़ देना अच्छा समझा। उन्होंने हालैंड को प्रस्थान कर दिया। अनेक धर्मप्रेमियों ने तो निज जन्म-भूमि का सदा के लिए त्याग कर दिया। इस कारण कतिपय व्यक्तियों ने, १६२० ई० में फ्लावर नाम के एक नन्हें जलयान में नई दुनिया के लिए प्रस्थान किया। अन्त में वे उत्तरी अमरीका पहुँच गए।

इन यात्राओं पर जब हम गहन विचार करते हैं तो विस्मय में पड़ जाते हैं। ये यात्रायें वायु के वेग से पाल द्वार ही हुआ करती थीं। वे जलयान आज की अपेक्षा बहुत छोटे होते थे। ड्रेक ने जिस जलयान पर पृथ्वी की परिक्रमा की थी उसकी अपेक्षा आजकल के जलयान बीस-चालीस गुने बड़े होते हैं। कोलम्बस से लेकर ड्रेक तक अनेक साहसी नाविकों ने विशाल महासागरों को आंधी और तूफान में जिस वीरता, साहस और धैर्य के बल पर पार किया, वह सदा स्मरण रहेगा। आज विद्युत् के युग में समुद्र पार करना एक खेल हो गया है, किन्तु उस समय केवल पाल के सहारे इतने बड़े महासागरों की उत्ताल तरंगों पर जहाज़ चलाना प्राणों के साथ खेलना था।

इब्नबतूता

[चौदहवीं शताब्दी के स्थल के सबसे बड़े यात्रियों में इब्नबतूता की गणना होती है। मिश्र, अरब, फारस, भारत, चीन, जावा, सुमात्रा आदि देशों में बीस वर्ष से अधिक समय तक यात्रा करने वाला यह साहसी यात्री अपने शब्दों में अपनी यात्रा का विवरण लिख गया है। उसी के आधार पर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसकी विकट यात्रा की साहस-भरी कहानियाँ लिखी हैं।]

मुसलमान यात्री इब्नबतूता का आसन उन सब यात्रियों से ऊँचा है जिन्होंने ऐसे समय में यात्रा की थी जब न रेल थी और न आज-कल के ऐसे बड़े-बड़े जहाज़ ही थे। उस समय यात्रियों को पग-पग पर बड़ी-बड़ी भयंकर विपत्तियों का सामना करना पड़ता था।

वह संवत् १३८२ विक्रमी में यात्रा करने चला। टेंजियर से चलकर वह मिश्र देश के प्रधान नगर काहिरा में आया। वहाँ से वह जेरुशलम, मक्का आदि मुख्य-मुख्य नगरों और तीर्थों की यात्रा करता हुआ फ़ारिस देश में पहुँचा। शीराज़, इस्फहान, बग़दाद, आदि होता हुआ वह फिर मक्के को लौट गया। मक्के से वह फिर हिन्दुस्तान जाना चाहता था, परन्तु उसे हिन्दुस्तान जानेवाला कोई जहाज ही न मिला। लाचार उसने उस समय

भारतयात्रा का विचार त्याग दिया परन्तु उससे बैठे न रहा गया।

लालसागर पार करके वह मिश्र देश में आया और वहाँ से नील नदी के किनारे-किनारे चलकर काहिरा पहुँचा।

इसके बाद वह हिन्दुस्तान की ओर चला। रास्ते में जो-जो नगर पड़े उन में ठहरता हुआ वह उस पर्वत पर पहुँचा जिसे आज कल 'हिन्दुकुश' कहते हैं। उसने लिखा है कि इस पर्वत को 'हिन्दुकुश' इसलिए कहते हैं कि जो गुलाम हिन्दुस्तान से पकड़ कर लाये जाते थे, इस पर्वत की शीत को न सह सकने के कारण मर जाते थे। हिन्दुकुश के निकट बशाई नाम के एक पहाड़ पर उसे एक बूढ़ा आदमी मिला। उसने बतलाया कि मेरी उम्र इस समय तीन सौ पचास वर्ष की है। प्रत्येक शताब्दी समाप्त होने पर मेरे दाँत और बाल नये हो जाते हैं।

इब्नबतूता को उस वृद्ध की बातों पर विश्वास न हुआ। वह वहाँ से काबुल होता हुआ सं० १३८६ वि० में पंजाब पहुँचा। उस समय हिन्दुस्तान में मुहम्मद तुग़लक बादशाह था। देश में शान्ति नाम को भी न थी। कोई राजपथ तक सुरक्षित न था। मुसाफ़िर सब-कहीं लूट लिये जाते थे। स्थान-स्थान पर उत्पात होते थे। निर्बलों को सताना ही बलवान् अपना कर्तव्य समझते थे। अपनी भारत-यात्रा के विषय में इब्न बतूता ने अपने सफ़र-नामे में इस प्रकार लिखा है—

"सिन्ध हिन्दुस्तान का बड़ा भारी दरिया है। यहाँ डाक प्यादों और सवारों द्वारा लाई और भेजी जाती है। हिन्दुस्तान

का कोई मेवा हमारे देश में प्रसिद्ध नहीं। केवल तरबूज़ ही ऐसा फल है जो यहाँ भी होता है और वहाँ भी। परन्तु वहाँ का तरबूज़ बड़ा और मीठा होता है। यहाँ वृक्ष बहुत बड़े-बड़े हैं, परन्तु अपने यहाँ का कोई वृक्ष मुझे नहीं दिखाई पड़ा। यहाँ का एक फल आम है। कच्चा आम खट्टा होता है। उसका अचार पड़ता है। पक्का सेव की तरह मीठा होता है। ख़िरनी, जामन, महुआ, बेर आदि कितने ही और भी मेवे यहाँ होते हैं। अंगूर और अनार बहुत नहीं होते। अनाज बहुत किस्म के होते हैं। यहाँ के अधिकतर निवासी काफ़िर और बुतपरस्त हैं। उनमें जो इसलामी शासन के अधीन नगरों और गाँवों में बसते हैं वे तो शांतिप्रिय हैं परन्तु जो पहाड़ों पर रहते हैं वे लूटमार करते हैं। इन लोगों में मृतपति के साथ स्त्रियाँ ज़िन्दा जल जाती हैं। जब पति मरता है तब स्त्री शृंगार करती है। ब्राह्मण और अन्य लोग बाजा बजाते हैं। जिस आग में मृतपति जलाया जाता है, उसी में स्त्री भी जा गिरती है। दोनों थोड़ी देर में राख हो जाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सब विधवाएँ अपने पति की लाश के साथ जलें। परन्तु यह प्रथा बहुत अच्छी समझी जाती है। जिस घर की कोई स्त्री इस प्रकार जल जाती है उस घर का लोग बड़ा आदर करते हैं। जो विधवा नहीं जलती उसे मोटे कपड़े पहन कर अपना सारा जीवन अपने सम्बन्धियों के साथ बिताना पड़ता है। जलने के पहले स्त्री खूब खुश होकर हँसती बोलती और नाचती है।"

दिये और कहा कि यह आप के कपड़ों की धुलाई है। इसके सिवा उसने मुझे एक बहुमूल्य चोग़ा और मेरे नौकरों को जो लगभग चालीस थे, दो हज़ार दीनार दिये। उस समय बादशाह कहीं बाहर गये हुए थे, परन्तु उनकी कृपा से हम लोगों के आराम में कोई विघ्न नहीं पड़ा। इसी बीच मेरी एक लड़की का देहान्त हो गया। वज़ीर ने उसकी अन्त्येष्टि क्रिया का सब ख़र्च सरकारी ख़ज़ाने से दिया।"

"हमारे देहली पहुँचने के थोड़े ही दिनों बाद समाचार मिला कि बादशाह राजधानी को लौट रहे हैं। हम लोग नज़रें ले-लेकर सात मील आगे बढ़कर बादशाह से मिलने गये। बादशाह ने मेरा और मेरे साथ के मुसाफ़िरों का ख़ूब सत्कार किया और सब को खिलअतें दीं। देहली पहुँचकर बादशाह ने हममें से हर मुसाफ़िर को योग्यतानुसार एक-एक पद पर नियत कर दिया। मुझे देहली के काज़ी का पद मिला। मेरी तनख़्वाह बारह हज़ार रुपये साल नियत हुई। इसके सिवा बारह हज़ार की जागीर भी मिली। मैं हिन्दुस्तान की ज़बान बिलकुल न समझता था। इस लिए बादशाह ने मेरे दो नायब नियत किये, जो मुझे हर बात में सहायता दें।"

"मुहम्मद तुग़लक बड़ा ही उदार और दयालु बादशाह है, परन्तु साथ ही ज़िद्दी भी परले सिरे का है। ज़रा-ज़रा सी बात पर ज़िद कर बैठता है। ज़िद में आकर कभी-कभी वह बड़े-बड़े कठोर काम कर डालता है। कुछ बाग़ियों ने देहली वालों को

बादशाह के विरुद्ध भड़का दिया। फल यह हुआ कि बादशाह ने हुक्म दे दिया कि देहली खाली कर दी जाय। यदि कोई आदमी नगर के किसी मकान में पाया जायगा तो उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा। लोग अपने-अपने घर छोड़कर भाग गये। केवल दो आदमी जिनमें एक अन्धा था, एक घर में छिप रहे। शाही नौकरों ने उन्हें ढूँढ निकाला। जो अन्धा था उसे देहली से दौलताबाद तक घसीटे जाने का हुक्म हुआ और दूसरे को एक ऊँची छत पर से गिरा दिये जाने का। कोई न कोई घटना इस तरह की हुआ ही करती है। कभी कोई शेख अपनी जान खोता है और कभी कोई अमीर हाथी के पैरों में बँधवाकर मारा जाता है।"

"यद्यपि बादशाह मुझ पर बड़ी कृपा करता था तथापि मैं प्रतिदिन होनेवाले अत्याचारों को न देख सकता था। इधर हिन्दुस्तान में रहते मुझे बरसों हो गये थे, इसलिए घूमने के लिए मेरा जी ललच रहा था। मेरा खर्च भी बहुत बढ़ गया था। पचपन हज़ार रुपये का तो मेरे ऊपर कर्ज़ हो गया था। इसी बीच एक दुर्घटना हो गई। बादशाह ने एक शेख पर नाराज़ होकर उसे कैद कर दिया। शेख के मिलने-जुलने वाले भी पकड़े जाने लगे। मैं भी उस से मिला करता था, इसलिए दूसरों के साथ मुझे भी बादशाह के सामने हाज़िर होना पड़ा। औरों को तो फाँसी दे दी गई परन्तु मैं छोड़ दिया गया। छूटते ही मैंने अपने काम से इस्तीफ़ा दे दिया और अपना सब

माल-असबाब फ़क़ीरों को बाँटकर फ़क़ीर वेश धारण कर लिया।

"इसी समय चीन के सम्राट् ने बादशाह मुहम्मद के पास कुछ सौगातें भेजीं। मैं जो फ़क़ीरी वेश में बादशाह से मुलाकात करने गया तो उसने पहले से भी अधिक मेरा सत्कार किया। उसने कहा—"मैं जानता हूँ कि तुम सफ़र बहुत पसन्द करते हो। अच्छा तुम मेरे एलची बनकर चीन जाओ, मेरी तरफ़ से चीन के सम्राट् के पास सौगातें ले जाओ। मैंने इस काम को स्वीकार कर लिया। मैं बादशाह की तरफ से सौगातें लेकर चीन से आये हुए एलची के साथ देहली से चल पड़ा। रास्ते में डाकुओं ने हम लोगों पर डाका डाला। हम सब भागकर तितर-बितर हो गये। मैं अकेला रह गया। सात दिन तक जंगली फलों और पत्तों को खाता मैं चला गया। एक दिन कमज़ोरी के कारण बेहोश होकर सड़क पर गिर पड़ा। जो आँखें खुली तो मैंने अपने को शाही सिपाहियों के बीच में पाया। मैं बादशाह के पास पहुँचाया गया। वह मेरे लूटे जाने का हाल सुन चुका था। मुझे बारह हज़ार रुपये देकर कुछ आदमियों के साथ उसने फिर रवाना किया।

"रास्ते में हम लोग जोगियों से मिले। ये जोगी ज़मीन के नीचे अपना मकान बनाते हैं। हवा आने के लिए केवल ज़रा सा छेद रहता है। ये महीनों कुछ नहीं खाते। मैंने सुना है कि एक जोगी ने साल भर तक कुछ नहीं खाया। बादशाह जोगियों को

बहुत पसन्द करते हैं। वे उनकी सुहबत में बैठते हैं। जोगी लोग केवल एक बार देखकर ही आदमी को मार सकते हैं। एक दिन मैं बादशाह के पास बैठा था कि दो जोगी आये। बादशाह ने उनका बड़ा आदर किया और मेरी तरफ़ इशारा करके उनसे कहा—यह मुसाफ़िर है, इसे कोई करामात दिखलाइए। एक जोगी उठा और आकाश में उड़ गया। मैं इस विचित्र लीला को देखकर बेहोश हो गया। जब मैं होश में आया तब देखा कि जोगी उसी प्रकार हवा में उड़ रहा है। इतने में दूसरा जोगी उठा और चन्दन का एक टुकड़ा ज़मीन पर मारकर वह भी उसी तरह हवा में उड़ने लगा। जब मैं बहुत घबरा गया तब बादशाह ने जोगियों के इस खेल को बन्द करवा दिया।"

"चलते-चलते हम लोग सिन्धुपुर नाम के द्वीप में पहुँचे। इसमें एक बड़ा भारी तालाब और एक मन्दिर है। मैं मन्दिर के पास पहुंचा तो देखता क्या हूँ कि एक जोगी दो मूर्तियों के बीच में बैठा है। मैंने उसे बुलाया, पर वह न बोला। मैंने इधर-उधर देखा, पर कोई खाद्य पदार्थ मुझे न दिखाई पड़ा। मैं देख ही रहा था कि वह एकदम कड़का और एक नारियल उस वृक्ष से जो उसके सामने ही था, पट से नीचे गिर पड़ा। यह नारियल उसने मेरी तरफ़ फेंक दिया। मैंने उसे कुछ रुपया देना चाहा पर उसने तुरन्त मुझे मेरे रुपयों से दस रुपये अधिक दे दिये। मैं उसे मुसलमान समझता हूँ क्योंकि जब मैंने उसे बुलाया तब पहले तो उसने आकाश की तरफ़ संकेत किया, फिर

माल-असबाब फ़क़ीरों को बाँटकर फ़क़ीर वेश धारण कर लिया।

"इसी समय चीन के सम्राट् ने बादशाह मुहम्मद के पास कुछ सौगातें भेजीं। मैं जो फ़क़ीरी वेश में बादशाह से मुलाकात करने गया तो उसने पहले से भी अधिक मेरा सत्कार किया। उसने कहा—"मैं जानता हूँ कि तुम सफ़र बहुत पसन्द करते हो। अच्छा तुम मेरे एलची बनकर चीन जाओ, मेरी तरफ़ से चीन के सम्राट् के पास सौगातें ले जाओ। मैंने इस काम को स्वीकार कर लिया। मैं बादशाह की तरफ से सौगातें लेकर चीन से आये हुए एलची के साथ देहली से चल पड़ा। रास्ते में डाकुओं ने हम लोगों पर डाका डाला। हम सब भागकर तितर-बितर हो गये। मैं अकेला रह गया। सात दिन तक जंगली फलों और पत्तों को खाता मैं चला गया। एक दिन कमज़ोरी के कारण बेहोश होकर सड़क पर गिर पड़ा। जो आँखें खुली तो मैंने अपने को शाही सिपाहियों के बीच में पाया। मैं बादशाह के पास पहुँचाया गया। वह मेरे लूटे जाने का हाल सुन चुका था। मुझे बारह हज़ार रुपये देकर कुछ आदमियों के साथ उसने फिर रवाना किया।

"रास्ते में हम लोग जोगियों से मिले। ये जोगी ज़मीन के नीचे अपना मकान बनाते हैं। हवा आने के लिए केवल ज़रा सा छेद रहता है। ये महीनों कुछ नहीं खाते। मैंने सुना है कि एक जोगी ने साल भर तक कुछ नहीं खाया। बादशाह जोगियों को

वहुत पसन्द करते हैं। वे उनकी सुहवत में वैठते हैं। जोगी लोग केवल एक वार देखकर ही आदमी को मार सकते हैं। एक दिन मैं वादशाह के पास वैठा था कि दो जोगी आये। वादशाह ने उनका वड़ा आदर किया और मेरी तरफ़ इशारा करके उनसे कहा— यह मुसाफ़िर है, इसे कोई करामात दिखलाइए। एक जोगी उठा और आकाश में उड़ गया। मैं इस विचित्र लीला को देखकर वेहोश हो गया। जब मैं होश में आया तव देखा कि जोगी उसी प्रकार हवा में उड़ रहा है। इतने में दूसरा जोगी उठा और चन्दन का एक टुकड़ा ज़मीन पर मारकर वह भी उसी तरह हवा में उड़ने लगा। जब मैं वहुत घवरा गया तव वादशाह ने जोगियों के इस खेल को बन्द करवा दिया।"

"चलते-चलते हम लोग सिन्धुपुर नाम के द्वीप में पहुँचे। इसमें एक वड़ा भारी तालाव और एक मन्दिर है। मैं मन्दिर के पास पहुंचा तो देखता क्या हूँ कि एक जोगी दो मूर्तियों के बीच में वैठा है। मैंने उसे वुलाया, पर वह न वोला। मैंने इधर-उधर देखा, पर कोई खाद्य पदार्थ मुझे न दिखाई पड़ा। मैं देख ही रहा था कि वह एकदम कड़का और एक नारियल उस वृक्ष से जो उसके सामने ही था, पट से नीचे गिर पड़ा। यह नारियल उसने मेरी तरफ़ फेंक दिया। मैंने उसे कुछ रुपया देना चाहा पर उसने तुरन्त मुझे मेरे रुपयों से दस रुपये अधिक दे दिये। मैं उसे मुसलमान समझता हूँ क्योंकि जब मैंने उसे वुलाया तव पहले तो उसने आकाश की तरफ़ संकेत किया, फिर

मक्का-मुअज्जमा की तरफ। इन इशारों से उसने यह प्रकट किया था कि वह खुदा वाहिद और रसूल अल्लाह को जानता है और उन्हीं पर ईमान रखता है।"

"यहाँ से हम लोग मलाबार पहुँचे। यहाँ की सड़कों पर आधे-आधे मील पर मुसाफिरखाने बने हुए हैं। हिन्दू और मुसलमान कोई क्यों न हों, बिना किसी रोक-टोक के इन मुसाफिरखानों में ठहर सकते हैं। इन मुसाफिरखानों में एक-एक कुआँ है। एक आदमी कुएँ पर सदा बैठा रहता है और लोगों को पानी पिलाया करता है। हिन्दुओं को पानी किसी पात्र में दिया जाता है और मुसलमानों को चुल्लू में। हिन्दू अपने पात्र मुसलमानों को नहीं छूने देते। यदि कोई पात्र किसी मुसलमान से छू जाय तो वह तुरन्त तोड़ दिया जाता है। यहाँ अधिकतर हिन्दू ही रहते हैं। परन्तु मुसलमान व्यापारी भी बहुत पाये जाते हैं। नगरों में मुसलमान यात्री मुसलमान व्यापारियों के यहाँ ठहरा करते हैं। जहाँ मुसलमान व्यापारी नहीं, वहाँ हिन्दू लोग मुसलमानों को केले या किसी दूसरे पत्ते पर खाना दे देते हैं। इस राज्य में मैंने दो मास तक सफर किया, परन्तु कहीं ज़रा सी ज़मीन बिना जोती-बोयी न देखी। हर एक आदमी के पास एक-एक बाग़ है, जिसमें रहने के लिए घर बना है। यहाँ सिवा बादशाह के कोई घोड़े पर सवार नहीं होता। अमीर लोग पालकियों पर सवार होते हैं। व्यापारी लोग लदनेवाले जानवरों का काम कुलियों से लेते हैं। चोरों को यहाँ

प्राणदण्ड तक दिया जाता है, इसीलिए यहाँ चोरी नहीं होती। मलाबार में बारह राजा हैं। सब से बड़े राजा के पास पचास हज़ार सेना है और सब से छोटे के पास पाँच हज़ार। इन राजाओं के उत्तराधिकारी इनकी बहनों के पुत्र होते हैं। इस देश में काली मिर्च बहुत होती है।

"हेली और पट्टन होते हुए हम लोग कालीकट पहुँचे। यहाँ से चीन को जहाज जाते हैं। प्रत्येक जहाज में एक हज़ार कर्मचारी रहते हैं जिनमें छः सौ मल्लाह होते हैं और चार सौ नौकर-चाकर। बड़े जहाज के साथ तीन छोटे-छोटे जहाज भी रहते हैं। ये जहाज चीन में बनते हैं। ये बड़ी-बड़ी शहतीरों के डाँडों से खेये जाते हैं। बीस-पच्चीस मल्लाह मिलकर एक डाँड चलाते हैं। जहाजों में लकड़ी के घर बने रहते हैं, जिनमें जहाज के कर्मचारी रहते हैं।

"हम लोग चीन जाने वाले जहाजों पर सवार हुए। दुर्भाग्यवश चलते ही तूफ़ान आया। जहाज टूट-फूट गये। मेरे सब साथी समुद्र में डूब गये। केवल मैं बच गया। अन्त को घूमते-घामते मैं मालद्वीप में पहुँचा।"

यहाँ पर इब्नबतूता की भारत-यात्रा समाप्त होती है। उस समय मालद्वीप में कोई स्त्री राज कर रही थी। पहुँचते ही बतूता को वहाँ के काज़ी का पद मिल गया। वह वहाँ लगभग एक वर्ष रहा। उसने वहाँ की चार स्त्रियों से शादी की। एक से तो एक पुत्र भी हुआ। पर अधिक दिनों तक वह वहाँ न ठहर सका।

खड़ी थीं, टस-से-मस तक होने का नाम नहीं लेतीं थीं। उनके पास रहस्यों का वह अनन्त खजाना भरा है कि मानव के लगातार प्रयत्यशील रहने पर भी इन रहस्यों के प्रकट होने में न मालूम कितना समय और कितनी पीढ़ियों का बलिदान आवश्यक होगा, यह बताना कठिन है।

देश की सीमा बनाने वाले पर्वतों को हमारे देश की प्राचीन परिभाषा के अनुसार मर्यादा-पर्वत कहते हैं और हिमालय पर्वत भारत के मर्यादा-पर्वतों में अपना खास स्थान रखता है। यह भारत के उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ है। हिमालय कोई एक पहाड़ नहीं है, न इस का एक ही शिखर है। यह तो अनेकों मील चलती आई पर्वत-शृंखला का नाम है जो मीलों लम्बी है, मीलों चौड़ी; जिसमें भारत-भूमि को सींचने वाली गङ्गा, यमुना, सिंध आदि अनेकों नदियों को जन्म ग्रहण करने का सौभाग्य है। हिमालय शब्द मुख्यतः पूर्व में ब्रह्मपुत्र और पश्चिम में सिन्धु इन दो नदियों के बीच सनातन हिम से ढकी उस शैल-परम्परा के लिए बरता जाता है जिस में नङ्गा पर्वत, नुनकुन, बंदरपूँछ, केदारनाथ, नन्दादेवी, धौलागिरि, गोसाइथान, गौरीशङ्कर, कंचनचंगा, चुमलारी आदि प्रसिद्ध पहाड़ हैं।

इस पर्वत-शृंखला में बीस हजार फुट से ऊँचे शैल-शिखर तो अनेक हैं। पर गौरीशङ्कर, कंचनचंगा, नङ्गा पर्वत, धौलागिरि, नंदादेवी, और कामेट आदि शैलशिखर अपनी उच्चता के कारण मानव-समाज का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते रहे हैं।

इन शैल-शिखरों पर कई बार चढ़ाइयाँ हो चुकी हैं, साहसिक यात्रियों ने इनमें उत्तुङ्ग शिखरों पर पहुँचने के अनेक प्रयत्न किये हैं, पर कामेट और नन्दादेवी को छोड़कर जो कि इन शैल-शिखरों में सबसे नीचे हैं और किसी भी शिखर पर कोई नहीं पहुँच सका है। पर्वत-आरोहियों ने हँसते-हँसते बड़े-से-बड़े संकट झेले हैं पर अंत में उन्हें निराश ही लौटना पड़ा है।

न मालूम मानव-स्वभाव में वह कौनसी खूबी है कि उस को बार-बार की असफलताएँ हताश नहीं करतीं। एक के बाद दूसरी तैयारी से वह बाज़ नहीं आता और प्रत्येक असफलता से वह कुछ-न-कुछ सीखकर नये अनुभव के ज्ञान के कारण नये उत्साह से अगली कोशिश में जुट जाता है। पछाड़ खाकर चुप बैठ जाना उस के स्वभाव में नहीं। हिमालय का मान वह कैसे सहन करता ? सन् १९३८ तक हिमालय के उत्तुङ्ग शैल-शिखरों तक पहुँचने में १५ गोरों तथा ४५ के लगभग भारतीय कुलियों ने अपने प्राणों की आहुति दी है।

दूसरे हिम-शिखरों की बात यदि एक तरफ़ रख दें तो भी १८८३ से १९३८ तक के बीच में अकेले गौरीशंकर पर आठ बार चढ़ाइयाँ हो चुकी हैं और तब तक पूर्ण सफलता की वरमाला पहनकर कोई नहीं लौट पाया। पर इस से मानव हताश नहीं हुआ। उसने अब हवाई जहाज की सहायता से इस शिखर के गुप्त रहस्यों का पता लगा लिया है और जब

लेकर सिरतोड़ कोशिश की, पर वे भी इससे आगे न जा सके। १९३२ ई० में एक प्रयत्न और हुआ पर मौसम ने साथ नहीं दिया। १९३४ ई० तक तो यह समस्या भी हल नहीं हो पाई थी कि नन्दा देवी पर चढ़ाई करने का सबसे सरल रास्ता कौनसा माना जाय? १९३४ ई० में अनेक कठिनाइयों के बाद शिपटन दल को ऋषि-गंगा के द्वार से भीतर पहुँचने में आंशिक सफलता मिली और अंत में १९३६ ई० में शिपटन-दल द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करते हुए आरोही दल असफलता की रेख पर मेख ठोकता हुआ नन्दा देवी के सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचा, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। हिमालय पर यह दूसरी विजय थी।

नंगा पर्वत

नंगा पर्वत एशिया खंड का एक शानदार पर्वत माना जाता है। यह जितना शानदार है, उतना ही दुरूह भी है। इस शिखर पर सौ फीट चढ़ना भी मौत से खेलना है। एक-एक फुट चढ़ना लोहे के चने चबाना है। हिमालय के अन्य हिम-शिखरों से अलग काश्मीर की सुन्दर भूमि में स्थित होने के कारण नंगा पर्वत असीम सौंदर्य का भंडार है। ऊँचाई की दृष्टि से संसार में इसका सातवाँ स्थान है और रमणीयता के माप से तो शायद सर्वप्रथम। २६६२० फीट ऊपर उठकर यह अडिग खड़ा है। अब तक इस पर केवल तीन ही चढ़ाइयाँ हो सकी हैं: पहली १९३२ ई० में दूसरी १९३४ ई० में और तीसरी १९३७ ई० में। अन्तिम दो चढ़ाइयों में लगभग २५ व्यक्तियों ने अपने प्राण

गँवाए। हिमालय-आरोहण के इतिहास में एक साथ इतने प्राणों का उत्सर्ग और किसी शिखर की चढ़ाई में कभी नहीं हुआ था। पर इन चढ़ाइयों में जो सबसे मूल्यवान् क्षति हुई वह थी यूरोप के प्रसिद्ध आरोही अल्फ्रेड ड्रेक्सले की मृत्यु।

इस पर्वत-शिखर पर चढ़ाई करने का सूत्रपात इससे ३७ वर्ष पहले सन १८९५ ई० में ममरी नामक एक युवक ने किया था। उसे यह धुन सवार हुई कि वह नंगा पर्वत की चोटी तक पहुँचे। पर प्रश्न यह था कि साथ कौन दे? कुछ गोरखे तैयार हुए। उस समय इतने वैज्ञानिक साधन उपलब्ध न थे, जितने कि आज हैं। अतः उन दिनों आज से कहीं अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। पर ममरी और गोरखों ने किसी बात की परवाह नहीं की। वे अदम्य साहस के साथ अपने उद्देश्य की ओर बढ़ चले। १९ अगस्त को वे २१००० फीट तक जा पहुँचे। पाँच दिन बाद ममरी और एक गोरखा डायमा ग्लेशियर तक जा पहुँचे। इसके बाद क्या हुआ—यह कोई नहीं जानता। ममरी और उसके साथी गोरखे की आवाज़ वहाँ किसी ने न सुनी और न उनको किसी ने फिर कभी देखा ही। वे आज तक लौटकर नहीं आए। ममरी के बलिदान के बाद कई वर्ष तक इस पर्वत शिखर पर चढ़ने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। १९३२ ई० में मरकल नामक जर्मन यात्री ने कुछ जर्मन और कुछ अमेरिकन युवकों को लेकर इस शिखर पर चढ़ाई की। अनेक कठि-नाइयों का सामना करते हुए वे २३१०० फीट की ऊँचाई तक

भारतीय कुलियों के प्राणों की आहुति ली। फिर पन्द्रह वर्ष तक इधर आने की किसी ने हिम्मत नहीं की। पर सन् १६२०, १६२५ और १६२६ ई० में तीन बार कुछ अंग्रेज यात्रियों ने फिर प्रयत्न किये, पर पहले की अपेक्षा कुछ अधिक ऊँचाई पर चढ़ने के अतिरिक्त कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। १६२६ ई में एक मनचला साहसी अमेरिकन युवक इस काम में लगा, पर उसे अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी। कांचनजंघा की चढ़ाई में यह पाँचवी आहुति थी।

उसी वर्ष एक जर्मन यात्री-दल ने, जो बैवेरिया से आया था, इस शिखर पर चढ़ाई शुरू की। इस दल का अध्यक्ष पालवार नामक एक अत्यन्त साहसी और पर्वतारोहण का विशेषज्ञ जर्मन था। पर जब पालवार को सफलता न मिली तो एक दूसरा दल तैयार हुआ। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय दल था और इसका नेता था प्रो० कैंडरेन फर्थ। पर इस दल को भी सफलता नहीं मिल सकी। अन्त में १६३१ ई० में फिर पालवार ने एक और दल तैयार किया। चुन-चुन कर अनुभवी यात्री इसमें रक्खे गए थे। इस बार उत्तर पूर्व की ओर से चढ़ाई प्रारम्भ की गई। ६ अगस्त को एक भीषण दुर्घटना हो गई, जिसके कारण हर शेलर और एक भारतीय कुली की मृत्यु हो गई। पर इस दल ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी। अदम्य साहस के साथ चढ़ते ही गए। अन्त में जब वे २६००० फीट पर पहुँचे तो कांचनजंघा का उच्च शिखर सामने दीखने लगा। अब तो दो हजार फीट से भी कम चढ़ाई बाकी रह गई थी। पर यह क्या! सामने एक अत्यन्त भीषण और

विशाल काय कगार, जिसको विजय करना आसान न था। ऊपर चढ़ने और आगे बढ़ने के हर प्रयत्न पर तुषारपात हो गया और सफलता असफलता में परिणत हो गई।

गौरीशंकर या माउंट एवरेस्ट

हिमालय की अन्य चोटियों की अपेक्षा इस की सबसे ऊँची चोटी—संभवतः दुनिया भर का सबसे ऊँचा शिखर—गौरीशंकर या माउंट एवरेस्ट साहसी आदमियों को अपने साहस की परीक्षा देने के लिए सबसे अधिक आकर्षित करता रहा है। यह चोटी २६००२ फीट ऊँची है। इस चोटी का नाम गौरीशंकर से माउंट एवरेस्ट किस प्रकार हो गया, यह कहानी बड़ी रोचक है। कहते हैं भारत सरकार के सर्वे विभाग के एक बंगाली बाबू श्री राधानाथ सिकदर आधुनिक काल में इसके अन्वेषक थे। जब सिकंदर साहब को गणित द्वारा यह ज्ञात हुआ कि इस शिखर की ऊँचाई २६००० फीट से ऊपर है और यह दुनिया में सबसे ऊँची चोटी है तो वे दौड़े-दौड़े अपने अफसर कर्नल एवरेस्ट के पास गये, जो उस समय सर्वे-विभाग के सर्वे-सर्वा थे और उनसे बोले—"श्रीमन्, मैंने संसार में सबसे ऊँचे पर्वत-शिखर का पता लगा लिया है और उस शिखर का नाम श्रीमान् के नाम पर माउंट एवरेस्ट रखा जाना चाहिये।" उसी दिन से भारतीय पाठशालाओं की पाठ्य-पुस्तकों और सरकारी काग़ज़ों में इस शिखर का नाम माउंट एवरेस्ट ही लिखा जाने लगा। भारत-सरकार द्वारा प्रका-

भारतीय कुलियों के प्राणों की आहुति ली। फिर पन्द्रह वर्ष तक इधर आने की किसी ने हिम्मत नहीं की। पर सन् १९२०, १९२५ और १९२६ ई० में तीन बार कुछ अंग्रेज यात्रियों ने फिर प्रयत्न किये, पर पहले की अपेक्षा कुछ अधिक ऊँचाई पर चढ़ने के अतिरिक्त कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। १९२९ ई में एक मनचला साहसी अमेरिकन युवक इस काम में लगा, पर उसे अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी। कांचनजंघा की चढ़ाई में यह पाँचवी आहुति थी।

उसी वर्ष एक जर्मन यात्री-दल ने, जो बैवेरिया से आया था, इस शिखर पर चढ़ाई शुरू की। इस दल का अध्यक्ष पालबार नामक एक अत्यन्त साहसी और पर्वतारोहण का विशेषज्ञ जर्मन था। पर जब पालबार को सफलता न मिली तो एक दूसरा दल तैयार हुआ। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय दल था और इसका नेता था प्रो० डैंटरेन फर्थ। पर इस दल को भी सफलता नहीं मिल सकी। अन्त में १९३१ ई० में फिर पालबार ने एक और दल तैयार किया। चुन-चुन कर अनुभवी यात्री इसमें रक्खे गए थे। इस बार उत्तर पूर्व की ओर से चढ़ाई प्रारम्भ की गई। ९ अगस्त को एक भीषण दुर्घटना हो गई, जिसके कारण हर शेलर और एक भारतीय कुली की मृत्यु हो गई। पर इस दल ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी। अदम्य साहस के साथ चढ़ते ही गए। अन्त में जब वे २६००० फीट पर पहुँचे तो कांचनजंघा का उन्नत शिखर सामने दीखने लगा। अब तो दो हजार फीट से भी कम चढ़ाई बाकी रह गई थी। पर यह क्या! सामने एक अत्यन्त भीषण और

विशाल काय कगार, जिसको विजय करना आसान न था। ऊपर चढ़ने और आगे बढ़ने के हर प्रयत्न पर तुषारपात हो गया और सफलता असफलता में परिणत हो गई।

गौरीशंकर या माउंट एवरेस्ट

हिमालय की अन्य चोटियों की अपेक्षा इस की सबसे ऊँची चोटी—संभवतः दुनिया भर का सबसे ऊँचा शिखर—गौरीशंकर या माउंट एवरेस्ट साहसी आदमियों को अपने साहस की परीक्षा देने के लिए सबसे अधिक आकर्षित करता रहा है। यह चोटी २६००२ फीट ऊँची है। इस चोटी का नाम गौरीशंकर से माउंट एवरेस्ट किस प्रकार हो गया, यह कहानी बड़ी रोचक है। कहते हैं भारत सरकार के सर्वे विभाग के एक बंगाली बाबू श्री राधानाथ सिकंदर आधुनिक काल में इसके अन्वेषक थे। जब सिकंदर साहब को गणित द्वारा यह ज्ञात हुआ कि इस शिखर की ऊँचाई २६००० फीट से ऊपर है और यह दुनिया में सबसे ऊँची चोटी है तो वे दौड़े-दौड़े अपने अफसर कर्नल एवरेस्ट के पास गये, जो उस समय सर्वे-विभाग के सर्वे-सर्वा थे और उनसे बोले—"श्रीमन्, मैंने संसार में सबसे ऊँचे पर्वत-शिखर का पता लगा लिया है और उस शिखर का नाम श्रीमान् के नाम पर माउंट एवरेस्ट रखा जाना चाहिये।" उसी दिन से भारतीय पाठशालाओं की पाठ्य-पुस्तकों और सरकारी कागजों में इस शिखर का नाम माउंट एवरेस्ट ही लिखा जाने लगा। भारत-सरकार द्वारा प्रका-

भारतीय कुलियों के प्राणों की आहुति ली। फिर पन्द्रह वर्ष तक इधर आने की किसी ने हिम्मत नहीं की। पर सन् १९२०, १९२५ और १९२६ ई० में तीन बार कुछ अंग्रेज यात्रियों ने फिर प्रयत्न किये, पर पहले की अपेक्षा कुछ अधिक ऊँचाई पर चढ़ने के अतिरिक्त कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। १९२९ ई में एक मनचला साहसी अमेरिकन युवक इस काम में लगा, पर उसे अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी। कांचनजंघा की चढ़ाई में यह पाँचवी आहुति थी।

उसी वर्ष एक जर्मन यात्री-दल ने, जो बैवेरिया से आया था, इस शिखर पर चढ़ाई शुरू की। इस दल का अध्यक्ष पालबार नामक एक अत्यन्त साहसी और पर्वतारोहण का विशेषज्ञ जर्मन था। पर जब पालबार को सफलता न मिली तो एक दूसरा दल तैयार हुआ। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय दल था और इसका नेता था प्रो० डैंडरेन फर्थ। पर इस दल को भी सफलता नहीं मिल सकी। अन्त में १९३१ ई० में फिर पालबार ने एक और दल तैयार किया। चुन-चुन कर अनुभवी यात्री इसमें रक्खे गए थे। इस बार उत्तर पूर्व की ओर से चढ़ाई आरम्भ की गई। ९ अगस्त को एक भीषण दुर्घटना हो गई, जिसके कारण हर शेलर और एक भारतीय कुली की मृत्यु हो गई। पर इस दल ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी। अदम्य साहस के साथ बढ़ते ही गए। अन्त में जब वे २६००० फीट पर पहुँचे तो कांचनजंघा का उच्च शिखर सामने दीखने लगा। अब तो दो हजार फीट से भी कम चढ़ाई बाकी रह गई थी। पर यह क्या! सामने एक अत्यन्त भीषण और

विशाल काय कगार, जिसको विजय करना आसान न था। ऊपर चढ़ने और आगे बढ़ने के हर प्रयत्न पर तुषारपात हो गया और सफलता असफलता में परिणत हो गई।

गौरीशंकर या माउंट एवरेस्ट

हिमालय की अन्य चोटियों की अपेक्षा इस की सबसे ऊँची चोटी—संभवतः दुनिया भर का सबसे ऊँचा शिखर—गौरीशंकर या माउंट एवरेस्ट साहसी आदमियों को अपने साहस की परीक्षा देने के लिए सबसे अधिक आकर्षित करता रहा है। यह चोटी २९००२ फीट ऊँची है। इस चोटी का नाम गौरीशंकर से माउंट एवरेस्ट किस प्रकार हो गया, यह कहानी बड़ी रोचक है। कहते हैं भारत सरकार के सर्वे विभाग के एक बंगाली बाबू श्री राधानाथ सिकदर आधुनिक काल में इसके अन्वेषक थे। जब सिकंदर साहब को गणित द्वारा यह ज्ञात हुआ कि इस शिखर की ऊँचाई २९००० फीट से ऊपर है और यह दुनिया में सबसे ऊँची चोटी है तो वे दौड़े-दौड़े अपने अफसर कर्नल एवरेस्ट के पास गये, जो उस समय सर्वे-विभाग के सर्व-सर्वा थे और उनसे बोले—"श्रीमन्, मैंने संसार में सबसे ऊँचे पर्वत-शिखर का पता लगा लिया है और उस शिखर का नाम श्रीमान् के नाम पर माउंट एवरेस्ट रखा जाना चाहिये।" उसी दिन से भारतीय पाठशालाओं की पाठ्य-पुस्तकों और सरकारी कागजों में इस शिखर का माउंट एवरेस्ट ही लिखा जाने लगा। भारत-सरकार ६.

शित Imperial Gazetteer Of India के नक्शे में इसका नाम अभी तक माउंट एवरेस्ट या गौरीशंकर दिया हुआ है।

श्रीराधानाथ सिकदर द्वारा गणित से इस चोटी की ऊँचाई निकाले जाने के हज़ारों वर्ष पहले हमारे पूर्वजों ने गौरीशंकर को हिमालय का सबसे ऊँचा शिखर मान रक्खा था। पर उस पर चढ़ने का उन्होंने इसलिए प्रयत्न नहीं किया था कि वह देवताओं का वास स्थान माना जाता था और शास्त्र मानव को देवताओं के कामों में हस्तक्षेप करने की अनुमति नहीं देते।

गौरीशंकर का उच्च शिखर पर्वतारोहियों के दिल में वर्षों से चुभ रहा है। वे लोग जो साहस और दर्प से ऊँचा सिर किये चलते हैं और कहते हैं—हमारे ऊँचे उठे हुए मस्तक को देखकर हिमालय का वह उच्च शिखर भी नतमस्तक हो जाता है, वे गौरीशंकर के ऊँचे शिखर को नीचा दिखाये बिना कब आराम लेने वाले थे। पर गौरीशंकर भी अभी तक वैसा ही अजेय खड़ा था। सन् १९३३ में वायुयान द्वारा ३३००० फीट की ऊँचाई से, और फिर कुछ नीचे उतर कर ३१००० फीट से इस शिखर का निरीक्षण करने में और इस की फोटो लेने में सफलता अवश्य मिली। पर तब तक अनेक अभियान करके भी इसके उच्च शिखर पर कोई मानव पग नहीं रख सका था।

गौरीशंकर के सबसे ऊँचे शिखर पर पहुँचने का ध्यान सर्व प्रथम सर मार्टिन कॉनवे को हुआ। सन् १८९२ ई० में उनको [illegible] हुई कि गौरीशंकर पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

उस समय उनकी योजना केवल कागज़ पर ही रही। कोई सहायक हाथ बँटाने को तैयार न हुआ। पर सर फ्रांसिस ने हिम्मत हारना तो सीखा ही नहीं था। १६०६ और १६०८ में फिर उन्होंने यत्न किए पर फिर भी असफल ही रहे। १६१४ ई० में जब उन्हें एक साथी सहायता देने को प्रस्तुत हो गया तो विश्व-व्यापी महायुद्ध ने किए-कराए पर पानी फेर दिया। सर फ्रांसिस फिर भी हताश नहीं हुए और महायुद्ध के बाद वे इस दुर्गम शिखर पर आक्रमण करने की योजना को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए रात-दिन अनवरत परिश्रम करते रहे। यात्रा के पूर्व की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना सर फ्रांसिस का ही काम था। इनकी लगन, साहस और जीवट अन्य साथियों में बराबर उत्साह फूँकते रहे।

गौरीशंकर का दुर्भेद्य उत्तुंग शिखर अंग्रेजी राज्य में नहीं है। इस पर चढ़ने के लिए रास्ता सिक्कम, नेपाल और तिब्बत— इन तीन राज्यों से होकर जाता है। अतएव पहले इन तीनों राज्यों के शासकों से इस अभियान के लिए आज्ञा ली गई। सन् १६२१ ई० में हिमालय से अच्छी तरह परिचित जनरल ब्रूस के अधिनायकत्व में इंग्लैण्ड की रॉयल ज्योग्राफिकल सोसाइटी तथा एल्पाइन क्लब की ओर से अनुभवी पर्वतारोहियों का एक दल गौरीशंकर पर विजय पाने के उद्देश्य से भारत आया। भारत की पहाड़ी घाटियों में से होकर ऊँचे-ऊँचे दर्रों पर चढ़ते हुए वे लोग तिब्बत की उपत्यका पर, जो १२००० फुट ऊँची है, पहुँचे और

फिर शिखर की ओर बढ़ते-बढ़ते ५ जुलाई १६२१ ई० को वे राँग-बुक नामक स्थान पर आ गये। यहाँ एक धर्मशाला में उन्होंने डेरा डाल दिया। यहीं से उन्हें गौरीशंकर की चढ़ाई के रास्ते का अनुसंधान करना था। महीना-भर इधर-उधर खोजने के बाद उन्हें उत्तर-पूर्व के कोने से एक ऐसा मार्ग मिल गया जो एक ग्लेशियर—बर्फ का स्थायी टीला—पर हो कर जाता था इससे वे ऊपर चढ़ सकते थे। इसी मार्ग से वे २५,००० फीट तक ऊपर चढ़े भी। पर सितम्बर महीने के अत्यधिक जाड़े और तेज़ हवा ने उन्हें आगे न बढ़ने दिया। वे साहसी यात्री वापिस चले आये, पर उन्होंने औरों के लिए इस उच्च शिखर पर चढ़ने का मार्ग प्रदर्शित कर दिया। उनके अनुभव ने यह भी बता दिया कि गौरीशंकर के लिए एक साल में केवल मई-जून के ६ सप्ताह ही उपयुक्त हैं, जिनमें सर्दी और वर्षा का ज़ोर कम होता है। इसके आगे-पीछे चढ़ाई हो नहीं सकती है।

२३००० फ़ीट की ऊँचाई पर चौथा आधारवास खड़ा कर दिया। इसके बाद नौ भारतीय कुली और चार अंग्रेज़, पाँचवाँ आधारवास स्थापित करने के लिए आगे बढ़े। उनके दिलों की उमंग थी कि वे इस बार अवश्य ही गौरीशंकर पर पैर रख कर लौटेंगे।

पाँचवें आधारवास के लिए रवाना होने के समय सभी आरोही पूर्ण स्वस्थ थे। पर प्रातःकाल मालूम हुआ कि अधिक परिश्रम के कारण चार भारतीय कुली पहाड़ी रोग से पीड़ित हो गए हैं। अधिक ऊपर जाने पर हवा पतली होती जाती है और उसमें ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाने से मनुष्य को साधारणतया साँस लेने में तकलीफ उठानी पड़ती है। जितने समय में मैदान में हम एक साँस लेते हैं उतने ही समय में ऊपर चढ़ जाने पर चार या पाँच बार साँस लेना पड़ता है, और कभी-कभी तो १० बार तक भी। इससे फेफड़ों पर बुरा असर पड़ता है और प्रायः दम घुट कर बेहोश हो जाने का भय बना रहता है। एक बार मूर्छित हो जाने के बाद यदि ऑक्सीजन न मिले तो फिर स्वयं 'धन्वन्तरि' भी रोगी को बचाने में असमर्थ रहते हैं।

अन्त में चौथे आधारवास के सभी भारतीय कुलियों को लौटा दिया गया और वे चारों अंग्रेज़ वहीं पड़े रहे। प्रातःकाल तक उन चारों में से भी एक अस्वस्थ हो गया। उस को वहीं छोड़ तीन आगे बढ़े। रात की गिरी बर्फ़ के कारण चारों तरफ़ भूमि सफेद

फिर शिखर की ओर बढ़ते-चढ़ते ५ जुलाई १९२१ ई० को वे राँग-चुक नामक स्थान पर आ गये। यहाँ एक धर्मशाला में उन्होंने डेरा डाल दिया। यहीं से उन्हें गौरीशंकर की चढ़ाई के रास्ते का अनुसंधान करना था। महीना-भर इधर-उधर खोजने के बाद उन्हें उत्तर-पूर्व के कोने से एक ऐसा मार्ग मिल गया जो एक ग्लेशियर—बर्फ का स्थायी टीला—पर हो कर जाता था इससे वे ऊपर चढ़ सकते थे। इसी मार्ग से वे २५००० फीट तक ऊपर चढ़े भी। पर सितम्बर महीने के अत्यधिक जाड़े और तेज हवा ने उन्हें आगे न बढ़ने दिया। ये साहसी यात्री वापिस चले आये, पर उन्होंने औरों के लिए इस उच्च शिखर पर चढ़ने का मार्ग प्रदर्शित कर दिया। उनके अनुभव ने यह भी बता दिया कि गौरीशंकर के लिए एक साल में केवल मई-जून के ६ सप्ताह ही उपयुक्त हैं, जिनमें सर्दी और वर्षा का ज़ोर कम होता है। इसके आगे-पीछे चढ़ाई हो नहीं सकती है।

२३००० फ़ीट की ऊँचाई पर चौथा आधारवास खड़ा कर दिया। इसके बाद नौ भारतीय कुली और चार अंग्रेज़, पाँचवाँ आधारवास स्थापित करने के लिए आगे बढ़े। उनके दिलों को उमंग थी कि वे इस बार अवश्य ही गौरीशंकर पर पैर रख कर लौटेंगे।

पाँचवें आधारवास के लिए रवाना होने के समय सभी आरोही पूर्ण स्वस्थ थे। पर प्रातःकाल मालूम हुआ कि अधिक परिश्रम के कारण चार भारतीय कुली पहाड़ी रोग से पीड़ित हो गए हैं। अधिक ऊपर जाने पर हवा पतली होती जाती है और उसमें ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाने से मनुष्य को साधारणतया साँस लेने में तकलीफ उठानी पड़ती है। जितने समय में मैदान में हम एक साँस लेते हैं उतने ही समय में ऊपर चढ़ जाने पर चार या पाँच बार साँस लेना पड़ता है, और कभी-कभी तो १० बार तक भी। इससे फेफड़ों पर बुरा असर पड़ता है और प्रायः दम घुट कर बेहोश हो जाने का भय बना रहता है। एक बार मूर्छित हो जाने के बाद यदि ऑक्सीजन न मिले तो फिर स्वयं 'धन्वन्तरि' भी रोगी को बचाने में असमर्थ रहते हैं।

अन्त में चौथे आधारवास के सभी भारतीय कुलियों को लौटा दिया गया और वे चारों अंग्रेज वहीं पड़े रहे। प्रातःकाल तक उन चारों में से भी एक अस्वस्थ हो गया। उस को वहीं छोड़ तीन आगे बढ़े। रात की गिरी बर्फ़ के कारण चारों तरफ़ भूमि सफेद

हो गई थी और इस बात का पता लगाना कठिन था कि कहाँ खाई है और कहाँ पत्थर। नर्म बर्फ के नीचे गड्ढे छिपे थे, जिन पर पैर पड़ जाने के बाद मृत्यु के अतिरिक्त और कोई भी चारा नहीं था। कठिनाइयों का अन्त यहीं तक न था। तीनों आदमी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जा रहे थे, त्यों-त्यों साँस लेना और कठिन हो रहा था। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति सामने आ गई कि खड़े होकर चलना असम्भव था। पर वे फिर भी आगे बढ़ते गए। उन्हें हाथ और पाँव के सहारे रेंगना तक स्वीकार था पर पीछे हटना नहीं। थोड़ी सी दूर तक रेंगने के बाद उन्हें साँस लेने के लिए ठहरना पड़ता था।

आधारवास के निकट पहुँचते-पहुँचते हवा के एक झोंके ने मोमबत्ती बुझा दी। अब तो निराशा ने उन्हें घेर लिया। तीनों अन्धेरे में सावधानी से रास्ता टटोलते बढ़ रहे थे। सौभाग्य से एक के हाथ उस रस्सी का छोर आगया जो चौथे आधारवास को जाती थी। इस रस्सी को सहारे तथा मार्ग-दर्शन के लिए ही बाँध रक्खा था। वे किसी तरह आधार-वास में पहुँच गए, उन्हें इतनी तेज़ प्यास लगी थी कि उनकी जीभ सूखती जा रही थी। प्रश्न था कि आग कहाँ से आवे, वर्फ से पानी कैसे तैयार हो। इसलिए थोड़ी सी ब्रांडी पीकर वे सोने के लिए अपने-अपने चमड़े के गर्म थैलों में घुस गए। सुबह उठकर वे तीसरे आधारवास को चल पड़े। उनके वापस जाने के वाद मलेरी, क्रॉफर्ड और समरवेल नामक आरोही १४ मज़दूरों को साथ लेकर आगे वढ़े। वर्फ वहुत पोली थी। कहीं कहीं तो घुटनों तक वर्फ में धँस जाने की नौवत आ जाती थी। राम-राम करके दो घंटे में यह रास्ता तै हुआ। आगे की चढ़ाई इससे भी अधिक कठिन थी। सव लोग कैंप में रस्से बाँध कर उसके सहारे बढ़ रहे थे। कुलियों को कई टोलियों में बाँट दिया गया। पोली वर्फ को पार करने पर कड़ी वर्फ मिली। उन प्रदेशों पर कड़ी वर्फ मिलने पर भी वहुधा वहुत धोखा हो जाता था। ऊपर-ऊपर तो वर्फ की मोटी और कड़ी तहें होती हैं, और नीचे गहरे गड्ढे और खोहें। एक-एक कदम फूँक-फूँक कर रखते हुए लगभग छः हजार फीट का रास्ता उन्होंने तै कर

लिया। गौरीशंकर का उच्च शिखर अब केवल २००० फ़ीट शेष था।

दोपहर को डेढ़ बजे के लगभग मलेरी एक स्थान पर सुस्ताने के लिए बैठ गया। उसके पीछे मज़दूरों की टोलियाँ आगे बढ़ती रहीं। जहाँ पर मलेरी बैठा था उससे थोड़ी दूर ऊपर की तरफ़ बर्फ़ की चट्टान लटक रही थी। हवा बन्द थी और धूप चमक रही थी। चारों ओर गम्भीर शान्ति का साम्राज्य था। किसी दुर्घटना के घटने की आशंका तक न की जा सकती थी। सहसा बड़े ज़ोर की आवाज़ हुई। ऐसा मालूम हुआ, मानो विकट भूचाल आ गया है। पैरों तले की ज़मीन खिसक गई। आरोहियों को फ़ौरन ही इस बात की आशंका हुई कि कोई विशालकाय चट्टान खिसक गई है। जो लोग आगे बढ़ गये थे उन्होंने शंकित होकर पीछे की ओर देखा। वह विशालकाय बर्फ़ की चट्टान और मलेरी दोनों ही अपनी जगह से गायब थे। उस चट्टान की जगह एक बड़ा भारी गढ़ा दिखाई दे रहा था।

किसी तरह बाहर निकल आये। होश में आने और स्वस्थ होने पर उन्हें मजदूरों की फिक्र पड़ी। नीचे की ओर देखने पर मालूम हुआ कि १५० फ़ीट की दूरी पर कुलियों की एक टोली तो मौजूद है, बाकी सब ला-पता हैं।

नीचे वाले कुलियों ने इशारे से बताया कि बीच की टोलियाँ बर्फ़ में दब गई हैं। मलेरी और उसके दोनों साथी तुरन्त नीचे उतरे। बर्फ़ खोदना शुरू किया। पहले एक मजदूर बाहर निकला। वह बिलकुल निष्प्राण हो रहा था। ताज़ी हवा लगने पर शीघ्र ही होश में आ गया। ज्यादा खुदाई करने पर एक और व्यक्ति बाहर निकला। उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। अब खुदाई का काम और अधिक तेजी से शुरू किया गया। सब लोग तीन टोलियों में बँट गये। एक जगह बर्फ़ के बाहर रस्सी का छोर निकला हुआ मालूम हुआ। वहाँ खुदाई करने पर एक व्यक्ति और मिला। वह भी मर चुका था। एक और व्यक्ति औंधा पड़ा हुआ पाया गया। ऑक्सीजन के पीपे उसकी पीठ पर बँधे हुए थे। वह बर्फ़ की चट्टानों में बुरी तरह फँस गया था। उसे बड़ी मुश्किल से बाहर निकाला जा सका। सौभाग्य से उस समय तक वह जीवित था। उसकी टोली में पाँच आदमी थे। उनमें से केवल एक ही जीवित निकला। शेष चारों दबकर मर चुके थे। तीसरी टोली में दो जीवित और दो मरे हुए निकले। इस तरह उस दैवी दुर्घटना में फँसकर देखते-देखते सात व्यक्तियों का बलिदान हो गया। यह अपने ढँग की पहली दुर्घटना थी। जो लोग जीवित

बचे थे उनकी दशा भी बड़ी शोचनीय थी। सेवा-शुश्रूषा करके किसी तरह से उन्हें नीचे पहुँचाया गया। तीसरे पड़ाव में पहुँचकर यात्रियों और मजदूरों ने मिलकर मृत व्यक्तियों के स्मारक-स्वरूप पत्थरों का एक ऊँचा-सा खम्भा चुन दिया। उस अवसर पर सभी कुलियों ने—विशेषकर जिनके सम्बन्धी इस दुर्घटना में काम आये थे—बड़े साहस और धैर्य का परिचय दिया।

उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम है। एवरेस्ट की चढ़ाई में अब तक जो कुछ भी सफलता मिली है उसका अधिकांश श्रेय इन्हीं वीरों को है। ये लोग कई बार २५-२६ हजार फीट की ऊँचाई तक जा चुके थे। वह भी खाली हाथ नहीं दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह सेर का भारी बोझा पीठ पर लाद कर। अँग्रेज यात्री तो खाली हाथ ऊपर पहुँच जाते थे। खेमे, खाद्य-सामग्री, ऑक्सीजन के पीपे तथा अन्य सब जरूरी सामान जिनके बिना साहब लोग उन पहाड़ी प्रदेशों में एक मिनट के लिए भी न ठहर सकते थे, यही ग़रीब कुली अपनी जान हथेली पर रखकर ऊपर ले जाते थे और स्वयं कष्ट और यातनाएँ झेलकर साहब लोगों को आराम पहुँचाते और अन्त में इन्हीं लोगों की सेवा में अपने प्राण तक निछावर कर देते। हिमालय-प्रदेश की चढ़ाई के इतिहास में इन वीरों का नाम अमर रहेगा।

हिमालय पर विजय न हो सकी। वह अजेय रहा। पर इन विफलताओं के अनुभवों से लाभ उठाकर वीरों ने एक बार और प्रयत्न करने का संकल्प किया।

दो वर्ष बाद सन् १९२४ में, ठीक उन्हीं दिनों और उन्हीं महीनों में फिर एक दल गौरीशंकर पर चढ़ाई करने आ पहुँचा। जनरल ब्रूस ही इनके नेता थे। इस बार उन्होंने चुन-चुनकर साथी साथ लिये थे। सामान में थोड़ा बहुत परिवर्तन किया गया। पिछले आक्रमण में चार आधारवास कायम किये गए थे, पर इस बार

विचारे का नामनिशान भी बाकी नहीं रहता। इसके बाद तो इसके तीनों साथी भी उसी तरह सावधानी से रस्सी का छोर पकड़ने में सफल हो सके। कुछ दिनों तक पड़ाव तीसरे आधार-वास तक सीमित रहा।

अब मौसम ने भी रंग पलटा और एक दल ने पाँचवां और छठा आधारवास अनेक कठिनाइयाँ झेलकर बना दिया। नार्टन और समरवेल नामक दो अंग्रेजों ने यहीं से गौरीशंकर के तुंग शिखर तक चढ़ जाने का निश्चय किया। समरवेल का स्वास्थ्य ठीक नहीं था पर वह पुराना खिलाड़ी था। सन् १८६२ में मलेरी के साथ भी वह था। उसने आगे बढ़ने के इरादे को नहीं छोड़ा।
४ जून को प्रातःकाल चाय-पानी से निवृत्त हो उन्होंने आगे बढ़ना शुरू कर दिया। २७५०० फीट की ऊँचाई पर पहुँचने पर नार्टन के नेत्रों में पीड़ा शुरू हो गई। उसे एक के स्थान पर दो चीजें दिखाई देने लगीं। फिर भी नार्टन और समरवेल आगे बढ़ते गये।

उन का आगे बढ़ना बहुत ही धीरे-धीरे हो रहा था। गति एकदम शिथिल थी। नार्टन की इच्छा थी कि बीस कदम चढ़कर साँस लिया जावे, पर वे तेरह कदम भी कठिनता से चढ़ पाते थे कि साँस फूल जाती थी। ज्यों-ज्यों ऊपर बढ़ते थे त्यों-त्यों हवा की नमी कम होती जा रही थी। अब तो एक दम पतली, सख्त और सूखी हवा से वास्ता पड़ने लगा। समरवेल का गला सूख गया। वे पाँच मिनिट आगे बढ़ते और

दस मिनिट तक विश्राम लेते, तब कहीं और पाँच मिनिट चलने योग्य बनते।

दोपहर तक दोनों गौरीशंकर की अन्तिम चोटी के नीचे की उपत्यका पर पहुँच गए। अब तक समरवेल की खांसी ने विकराल रूप धारण कर लिया था। वह आगे नहीं बढ़ सका। लाचार हो वहीं रुक गया। नार्टन एक प्रकार से अन्धा-सा हो रहा था, पर वह प्राणों की बाज़ी लगा कर अकेला ही बढ़ता चला गया और किसी के साथ न होने के कारण वह रस्से से भी काम नहीं ले सका। रस्सा बाँधता तो कैसे? और सामान ही कहाँ था? थक कर चूर-चूर हो रहा था। आँख की पीड़ा बराबर बढ़ती जा रही थी। फिर भी वह २८१२६ फीट तक बढ़ गया। यहाँ पहुँचते-पहुँचते उसे एक बज गया। अब तो गौरीशंकर का सबसे ऊँचा शिखर एक हज़ार फीट से भी कम रह गया था, पर नार्टन वहाँ तक पहुँचकर फिर लौटकर नहीं आ सकता था। लोभी की तरह उसने एक बार गौरीशंकर के दुर्गम शिखर को देखा और लौटने लगा। अब तक कोई भी मनुष्य २८१२६ फीट तक की ऊँचाई पर जाकर जीवित नहीं लौटा था।

नार्टन जीवित तो लौट आया पर वह सर्वथा अन्धा हो गया होता, यदि आँखों के कुशल डाक्टरों ने उसका उपचार पूरी चतुराई से न किया होता।

नार्टन के वापिस आने के बाद पूर्व-परिचित मलेरी और २१ वर्ष के नवयुवक इर्विन ने चढ़ाई के लिए कमर कसी। मलेरी

रात-भर नार्टन से बातें करता रहा। छः जून को वे दोनों चल पड़े। इनके साथ छः कुली थे। उसी दिन वे पांचवें आधारवास पर पहुँच गए और फिर शाम होते-होते छठे पड़ाव पर जा पहुँचे। वहाँ से सभी कुलियों को पांचवें पड़ाव पर लौटा दिया गया। ७ जून को ओडेल कुछ अन्य कुलियों के साथ पांचवें पड़ाव पर लौटे। उनके हाथ मलेरी ने यह पत्र भेजा कि वे सारा सामान छठे आधारवास में छोड़ केवल दो आक्सीजन के पीपे लेकर आगे बढ़ गए हैं। कुतुबनुमा तक साथ नहीं ले गए। मौसम एक दम अच्छा और अनुकूल है।

एक दिन तो ओडेल पांचवें पड़ाव पर उनकी प्रतीक्षा में रहा। पर जब मलेरी और इर्विन न आए तो वह छठे आधारवास को चल पड़ा। यह पड़ाव २६१०० फीट पर था। वहां पहुँचकर उसने पर्वत-शिखर की ओर दृष्टि दौड़ाई। इन्द्रधनुप और बादल एक-दम विलीन हो चुके थे। शिखर के आसपास वायुमण्डल पूर्ण-तया स्वच्छ था। उसने दूरबीन से देखना शुरू किया। उसने देखा कोई काला-सा धब्बा अन्तिम शिखर के नीचे के हिस्से की चढ़ाई पार कर ऊपर बढ़ रहा था। अवश्य ही वह धब्बा या तो मलेरी था या इर्विन। दूसरा धब्बा भी उसके पास पहुँचने का यत्न कर रहा था। उस समय १२ बजकर ५० मिनट हो चुके थे।

अचानक बादल घिर गए और कुहरा छा गया। फिर कुछ भी नहीं दीख पड़ा। तीन दिन तक ओडेल ने उनकी प्रतीक्षा की। कौन आता, मलेरी और इर्विन तो हिमालय की वेदी पर बलि चढ़ चुके थे।

जनरल ब्रूस की यह पार्टी जब वापिस लौटी तो अनगढ़ पत्थरों का एक स्मारक वहाँ बनाती आई। हिमालय की छाती पर खड़ा यह पत्थरों के ढेर का स्मारक हमें हिमालय की वेदी पर बलिदान होने वाले साहसी भारतीय कुलियों और अंग्रेज आरोहियों की स्मृति को बराबर याद कराता रहेगा।

इतने बलिदानों के बाद भी मानव ने हार नहीं मानी। १६३३ में ह्यू रटलेज की अध्यक्षता में एक और दल आगे बढ़ा। २२ मई तक यह दल २५६०० फीट चढ़ गया और २६ मई तक दल के तीन सदस्य हैरिस, वेगर और लांगलैंड आठ भारतीय कुलियों की सहायता से २७४०० फीट तक जाने में सफल रहे। ११ जून तक लगातार प्रयत्न होते रहे पर अन्त में इन्हें भी बर्फ की अत्यधिक वर्षा के कारण निराश होना पड़ा। १६३५ में फिर प्रयत्न असफल रहा और १६३८ के प्रयत्न के विफल हो जाने के बाद संसार में दूसरे महायुद्ध का भैरव रूप सामने आ गया। अतः इधर ध्यान ही कैसे जा सकता था?

यद्यपि हिमालय अब तक अजेय रहा तो भी हिमालय पर चढ़ने की उत्कृष्ट लालसा मनुष्य के साहस का जीवित प्रमाण है। अब तो विमान की सहायता से और भी सैंकड़ों बातों का पता लग गया है। अतः अब जो प्रयत्न होगा उसमें हिमालय को अवश्य ही पराभूत होना पड़ेगा।

मानव-स्वभाव की विशेषता यही है कि गुप्त रहस्यों के उद्घाटन में असफल होने पर भी वह नए प्रयत्नों से मुँह नहीं

मोड़ता। अब तक के लगातार प्रयत्नों से हमें ऐसा मालूम होता है कि मानव कभी भी हारकर नहीं बैठेगा, हार हिमालय की ही होगी। जो सिर पर कफन बाँधकर बलिदान होने में जरा भी हिचक नहीं खाते उन दुस्साहसियों को कोप में 'असफलता' शब्द ढूंढने पर भी नहीं मिलता।

१९५२ ई० में हिमालय की अजेय चोटियों पर चढ़ने के लिए कई पुरुषार्थी दल गए। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने अगस्त में सात नवयुवकों का दल भेजा। १५ दिसम्बर सन् १९५२ को ५ जापानी सदस्यों के एक पर्वतारोही दल ने काठमांडू से प्रस्थान किया। इस दल के नेता थे डा० इमानिशि। इस दल के सदस्य डा० टागकी और डा० हयाशी दो टन सामान जानवरों पर लाद-कर पहले ही पैदल प्रस्थान कर चुके थे।

यह दल हिमालय की मानसलू (२६६५०) फीट, अन्नपूर्णा (२५८०० फीट), हिमालय चुली (२५८०१ फीट) नामक चोटियों पर आरोहण करने गया। डा० इमानिशि ने वक्तव्य निकाला कि अन्नपूर्णा नामक चोटी पर एक फ्रांसीसी यात्री ने सन् १९५० ई० में आरोहण किया था। हमारा दल उसका पुनः निरीक्षण करेगा। इस दल की एक विशेषता यह है कि अन्य दल तो आक्सीजन यन्त्र के साथ यात्रा करते थे किन्तु यह दल उक्त यंत्र के बिना ही गया है। मानसल शृंग पर अभी तक कोई यात्री नहीं पहुँचा था इस जापानी दल ने सर्वप्रथम उस पर आरोहण का प्रयास किया।

सन् १९५३ ई० की साहसपूर्ण चढ़ाई ने अजेय एवरेस्ट को गम्य सिद्ध कर दिखाया। शेरपा तेनसिंह २८ मई, सन् १९५२ को स्विस अभियान के एक सदस्य श्री रैमेन्ट लम्बर्ट को साथ लेकर २८२,१५ फुट तक पहुँचा था और एवरेस्ट चोटी तक पहुँचने को भी उद्यत था। तेनसिंह लक्ष्य तक पहुँचना चाहता था और इसके लिए आज्ञा भी चाही परन्तु दल के नेता ने यह सोचकर कि कहीं एवरेस्ट-विजय का सेहरा तेनसिंह के सिर न बँध जाय उसे आगे बढ़ने से रोक दिया। तेनसिंह के हृदय में एवरेस्ट-विजय के अरमान शोले बनकर धधक रहे थे। यदि वह स्वीकृति पाता तो निश्चय ही आज एवरेस्ट-विजय की कहानी एक वर्ष पुरानी हो गई होती, परन्तु परवश तेनसिंह को हठात् वापस लौटना पड़ा।

फिर भी २८२१५ फुट तक की चढ़ाई से तेनसिंह ने एवरेस्ट के इतिहास में अपना उच्चतम 'स्तर' स्थिर कर दिया और उसने उसी क्षण एवरेस्ट की महान् चुनौती को स्वीकार करते हुए यह ठान लिया कि आगामी अभियान में एवरेस्ट पर विजय करके ही दम लूँगा।

मार्च सन् १९५३ में ब्रिटिश अभियान के साथ जाने का शर्तनामा भरने के पूर्व तेनसिंह ने अपने गत स्विस अभियान के कटु अनुभवों को सम्मुख रखते हुए यह शर्त लिखवा ली थी कि यदि मैं चोटी तक जा सकूँगा तो अकेला जाने को स्वतन्त्र होऊँगा और मुझे किसी आधार पर रोका नहीं जा

सकेगा। दल के नेता कर्नल जान हन्ट ने तेनसिंह की केवल यह शर्त ही नहीं मानी अपितु उसे अपने ब्रिटिश दल का सदस्य बनाना स्वीकार किया। परन्तु श्री हन्ट महोदय ने आश्वासन देकर अपनी परम्परागत कूटनीति के अनुसार तेनसिंह को दल का अधिकृत सदस्य बनाने का कहीं उल्लेख तक नहीं किया। हाँ, प्रौढ़ानुभवी, अदम्य साहसी, हिम सम्राट् के अनुभव का लाभ उठाने की भावना से प्रेरित होकर तेनसिंह को सदस्यों जैसी सुविधा जरूर दे दी गई। इस चढ़ाई से पूर्व तेनसिंह कई बार एवरेस्ट की चोटियों का आरोहण करने का प्रयास कर चुका था। पूर्व अभ्यास तथा अनुभव के आधार पर तेनसिंह इंच-इंच भर मार्ग एवं क्षण-क्षण के मौसम से परिचित था। आरोहण की इस बार की यात्रा से तेनसिंह की विजय-पिपासा शान्त हुई। तेनसिंह के साथ शिखर की दुर्गम चोटी तक पहुँचने का श्रेय हिलेरी को भी प्राप्त हुआ।

रवीन्द्रनाथ की रूस-यात्रा

स्थान—रूस। दृश्य, मास्को की उपनगरी का एक प्रासादभवन जँगले से देख रहा हूँ—दिगन्त तक फैली हुई अरण्य भूमि, सब्ज रँग की लहरें उठ रही हैं। कहीं स्याह सब्ज, कहीं फीका बैंगनी—मिश्रित सब्ज, कहीं पीलिया सब्ज-हिलोरें-सी नज़र आ रही हैं। वन की सीमा पर बहुत दूर गाँव की झोपड़ियाँ चमक रही हैं। दिन के करीब दस बजे हैं। आकाश में बादल-पर-बादल धीमी चाल से चले जा रहे हैं। बिना वर्षा का समारोह है, सीधे खड़े पॉपलर वृक्षों की चोटियाँ हवा से नशे में झूम सी रही हैं।

मास्को में कई दिन तक जिस होटल में था, उसका नाम है ग्रैन्ड-होटल। बड़ी भारी इमारत है, पर हालत अत्यन्त दरिद्र, मानो धनाढ्य लड़का दिवालिया हो गया हो। पुराने जमाने का असबाब है, कुछ बिक चुका है, कुछ फट गया है, जोड़ने और थेगरा लगाने योग्य नहीं, मैले-कुचैले कपड़े हैं, धोबी से सम्बन्ध नहीं। सारे शहर-भर की यही हालत है। अत्यन्त अपरिछिन्नता के भीतर से नबाबी जमाने का चेहरा दिखाई दे रहा है, जैसे फटे कुरते में सोने के बटन लगे हों, जैसे ढाके की धोती में रफू दूर से चमक रहा हो। आहार-व्यवहारों में ऐसी सर्वव्यापी निर्धनता योरप में और कहीं भी देखने में नहीं आती। इसका मुख्य कारण यह है कि और सब जगह धनी-दरिद्र का

भेद होने से धन का पुंजीभूत रूप सबसे ज्यादा बड़ा होकर निगाह के सामने पड़ता है।

वहाँ दरिद्र रहता है यवनिका के पीछे नेपथ्य में, जहाँ का सब कुछ बेसिलसिले का, बिखरा हुआ, गन्दा, अस्वास्थ्यकर है। जहाँ दुर्दशा और बेकारी के घोर अन्धकार के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं देता। परन्तु बाहर से आये हुए हम जहाँ टिकते हैं वहाँ के जँगले से जो कुछ देखते हैं, हमें सब समृद्ध, सुशोभित और परिपुष्ट ही दिखाई देता है। यह समृद्धि यदि समान रूप से बाँट दी जाती, तो उसी से पता लग जाता कि देश में धन ऐसा कुछ ज्यादा नहीं है, जिससे सबको खाने-पीने को काफी तौर से जुटता। यहाँ भेद न होने से ही धन का चेहरा बिगड़ गया है। दीनता में भी कुरूपता नहीं है, है अकिंचनता। देश-भर में फैला हुआ ऐसा अधन और कहीं देखा नहीं, इसीसे सबसे प्रथम हमारी दृष्टि उसी पर पड़ती है। अन्य देशों में जिसे हम सर्व-साधारण समझते हैं, यहाँ केवल वे ही रहते हैं।

मास्को की सड़कों पर सब तरह के आदमी चल फिर रहे हैं। किसी में शान-शौकत नहीं, कोई फीट-फाट नहीं। देखने से मालूम होता है कि मानो अवकाश-भोगी समाज यहाँ से सदा के लिए विदा हो गया है। सभी कोई अपने हाथ पैरों से काम-धन्धा करके जीवन बिताते हैं। बाबूगीरी की पालिश कहीं है ही नहीं। डा० पेट्राव नामक एक सज्जन के घर जाने का काम पड़ा है, वे वहाँ के एक प्रतिष्ठित आदमी हैं, ऊँचे ओहदेदार हैं। जिस मकान में

पुरुषार्थी ताता

भारतीय महापुरुषों में जमशेद जी नसरवान जी ताता का एक प्रमुख स्थान है। उद्योग-जगत् में पश्चिमी देशों की बराबरी में भारत भी गौरव-पूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका है। यह सचमुच ताता की ही साहसिकता का परिणाम है। देश-सेवा और समाज-सेवा के लिए लालायित ताता, विपदाओं और बाधाओं के पहाड़ की भी परवाह नहीं करते थे। हमारे लिए उनका पुरुषार्थी-जीवन आदर्श है।

३ मार्च सन् १८३९ ई० को गुजरात के नवसारी ग्राम में इनका जन्म हुआ था। इनके पूर्वज 'बहराम जी' उग्र प्रकृति के व्यक्ति थे। उनकी उग्रता ही के कारण लोग उन्हें 'ताता' कहने लगे और धीरे-धीरे यह नाम उनके वंश के साथ जुट गया। ताता जी के पिता नसरवान जी उच्च विचार के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति थे, अतः उन्होंने ताता जी की शिक्षा की समुचित व्यवस्था की। प्रारम्भ से ही व्यापार में जमशेद ताता की विशेष रुचि रही। पिता के सम्पर्क में इन्होंने व्यापारिक अनुभव प्राप्त किया, फिर ये हाँगकाँग चले गये।

व्यापार-कला अध्ययन करके वापस आने पर ताता जी ने जिस ताता कम्पनी की स्थापना की, उसका आज विश्व में एक विशेष स्थान है। राष्ट्र-हित की विशुद्ध भावना से प्रेरित होकर

व्यापार-कला का अनुभव प्राप्त करने के लिए इन्होंने अनेक देशों का भ्रमण किया। लंकाशायर और मैनचेस्टर का निरीक्षण कर ताता जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इनका आधार प्रधानतः भारतवर्ष के शोषण पर ही आश्रित है। मिल-सम्बन्धी अनुभव प्राप्त कर भारत वापिस आने पर ताता जी ने नागपुर के पास इम्प्रेस मिल स्थापित किया।

इम्प्रेस मिल की स्थापना के पश्चात् इनका ध्यान सूत और रूई की ओर गया। फलस्वरूप सूत कातने का कारखाना भी भी खुल गया। लम्बे रेशे की रूई की समस्या का समाधान करने के लिए ये मिश्र गये। वहाँ अच्छी प्रकार अध्ययन के उपरान्त लौटने पर नवसारी में मिश्र की कपास के बीज का प्रयोग किया, जिसमें ताता जी को अपूर्व सफलता मिली। उनका यह प्रयोग भारतवर्ष के लिए बड़ा हितकर सिद्ध हुआ। उन्होंने कपास की खेती पर एक सुन्दर पुस्तक भी लिखी है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है।

ताता जी बड़े ही स्वाभिमानी तथा कर्मठ व्यक्ति थे। देश के स्वाभिमान की रक्षा ही उनका सदा प्रधान उद्देश्य रहा। जिस काम को आरम्भ करते थे पूरा करके ही छोड़ते थे। बड़ी-बड़ी विदेशी व्यापारी कम्पनियों को भी उनका लोहा मानना पड़ा था। वस्त्र-व्यवसाय में पूर्ण सफलता प्राप्त कर ताता जी लोहे के व्यवसाय की ओर झुके। क्योंकि वस्त्रों ही की भाँति लौह वस्तुओं के लिए भी भारतवर्ष विदेशों का मुँह देखा करता था।

पंजाबी पुरुषार्थी

सर गंगाराम

[पंजाब का बच्चा-बच्चा सर गंगाराम के नाम से परिचित है। पंजाब ने उद्योग-जगत् में जिन पुरुषार्थी वीरों को उत्पन्न किया है, उनमें सर गंगाराम का स्थान बहुत ऊँचा है। सर गंगाराम ने अपने पुरुषार्थ के बल से देश की जो सेवाएँ कीं, उन्हे पंजाब भूल नहीं सकता। इस पाठ में उसी वीर पुरुषार्थी के पुरुषार्थ का वर्णन है।]

संसार के रंगमंच पर पुरुषार्थ के गीत गाने वालों में भारतीयों का भी श्रेष्ठ स्थान है। यद्यपि भारतवर्ष में अवनति का युग है, तो भी कभी-कभी भारत माता अपनी गोद के ऐसे लाल को संसार के सामने प्रगट कर देती है, जिसकी ज्योति को देख कर सारा संसार आश्चर्य-चकित हो उठता है। महात्मा गांधी भारतीय माता के तो लाल थे। संसार में ऐसा कौन पुरुष है, जो मानवता के मैदान में महात्मा गांधी की समता करेगा? महात्मा गांधी भारत की इस दरिद्रावस्था में भी जगत् की मानवता को एक ऐसी अमूल्य वस्तु दे गए हैं जिसकी ओर संसार के बड़े-बड़े वैभवशाली देशों का ध्यान भी न जा सका था। भारत संसार में अपनी इसी आदर्शवादिता से सदा से पूज्य बनता चला आ रहा है। मानवता-क्षेत्र में ही नहीं उद्योग जगत में भारत माता के लाल आज अपने प्रकाश से सारे संसार को

आश्चर्य में डाल रहे हैं। भारत माता के ऐसे लालों में सर गंगाराम का नाम विशेष गर्व से लिया जा सकता है। सर गंगाराम इस समय संसार में नहीं हैं, पर उनके पुरुषार्थ की कहानी इस समय भी भारतीय बच्चों की रगों में जीवन और जागृति का संचार कर रही है।

सर गंगाराम जीवन और जागृति की मूर्ति थे। पुरुषार्थ उनकी रग-रग में भरा हुआ था। उन्होंने अपने पुरुषार्थ की शक्ति से ही अपने लिए एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण कर लिया, जिसके लिए लोग आज भी उन्हें धन्य-धन्य कह रहे हैं। उन्होंने अपनी उन्नति तो की ही, देश के युवकों के सामने आगे बढ़ने का एक आदर्श सिद्धांत भी रक्खा। हमारे देश के नवयुवक जो जेबों में प्रमाण-पत्र डाले हुए नौकरियों की खोज में ही अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं, यदि सर गंगाराम के उपस्थित किये हुए आदर्शों के पथ पर चलें तो युवकों के कष्ट ही दूर न होंगे, बल्कि देश की दरिद्रता में भी अधिक कमी होगी। आज इस भारतवर्ष को सर गंगाराम ही ऐसे पुरुषों की आवश्यकता है। आवश्यकता इसलिए है, कि वे अपने साहस, पुरुषार्थ और उद्योग से उसकी रगों में जीवन दौड़ायें। आज साहस, उद्योग और पुरुषार्थ ही के अभाव से तो सारा देश रो रहा है, कंगाली से चीत्कार कर रहा है।

सर गंगाराम जगत् के उन महापुरुषों में थे, जिसकी प्रगति को हिमालय की ऊंची श्रेणियां भी रोकने में असमर्थ होती हैं

और जो अपने पुरुषार्थ की शक्ति से कांटेदार झाड़ियों को भी पुष्पमय बना देते हैं। क्या था सर गंगाराम के पास ? एक साधारण से वंश में उत्पन्न हुए थे और उनका जीवन ढँका हुआ था सम्पूर्ण अभावों से, किन्तु उन्होंने कभी इसकी चिन्ता न की। वे जब जीवन क्षेत्र में आगे निकले, तब बराबर आगे बढ़ते ही गये। विपत्तियां-बाधाएँ आती थीं और उनके वज्र ऐसे पुरुषार्थ से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाती थीं। वे साहस-शक्ति के साथ बराबर आगे बढ़ते ही गए। और इतना आगे बढ़ते गए कि आज सारा संसार उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देख रहा है।

आज भारत के कोने-कोने में सर गंगाराम अपनी उदारता और अपने पुरुषार्थ से सूर्य की भांति चमक रहे है, किन्तु एक दिन था जब वे भी एन्ट्रेंस पास एक साधारण विद्यार्थी के रूप में नौकरी के लिए लाहौर की सड़कों पर भटक रहे थे। कौन जानता था आज जो विद्यार्थी घूम-घूम कर दया का अनुसंधान कर रहा है, एक दिन सारा देश उसी की उदारता से नत-मस्तक हो उठेगा। सचमुच आज सारा भारतवर्ष सर गंगाराम की उदारता से नतमस्तक हो उठा है। सैंकड़ों संस्थाएँ आज उनके पुरुषार्थ द्वारा अर्जित की हुई सम्पत्ति से संचालित हो रही हैं, लाखों और करोड़ों विधवाओं और अनाथों का पेट भर रहा है, और पा रहे हैं सैकड़ों उनसे शिक्षा। क्या इतने पर भी उनकी उदारता के सन्मुख देश का मस्तक नत न हो उठा होगा ? इतना ही नहीं बल्कि मेरा तो कहना यह है, कि यदि देश का हृदय मौन रूप से

उनके पुरुषार्थ की जाप करता हो तो आश्चर्य क्या ? क्योंकि उनका पुरुषार्थ साधारण नहीं असाधारण था। वह एक ऐसे व्यक्ति का पुरुषार्थ था, जो साधनहीन था और घिरा हुआ था जिसका जीवन कांटेदार झाड़ियों से। गरीब की सिसकती हुई कुटिया में जन्म लेकर संसार के कल्याण के लिए आगे बढ़ना जगत के विरले ही व्यक्तियों का काम है। इस दृष्टि से सर गंगाराम भारतीय महापुरुषों में बहुत आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं। उन्होंने सचमुच कांटेदार झाड़ियों में चलकर गरीबों का कल्याण किया और दिया है उनके सुख और शान्ति के लिए अपने रक्त का दान।

हाँ, तो एक दिन सर गंगाराम साधारण विद्यार्थी के रूप में लाहौर की सड़कों पर घूम रहे थे। घूमते-घूमते वे एक आफ़िस में पहुँचे, जहाँ उनके गांव का एक पुरोहित किसी पद पर काम करता था। सर गंगाराम उनकी सहायता से कोई काम प्राप्त करना चाहते थे। उस समय उनकी अवस्था केवल सोलह-सत्रह वर्ष की थी। संसार क्या है, बेचारे जानते तक न थे। आफ़िस जाकर एक कुर्सी पर, जो खाली पड़ी थी, बैठ गये। अभी कुछ ही समय बीत पाया था, कि एक अफसर ने आकर सर गंगाराम को कुर्सी पर से उठा दिया। क्योंकि वह उसी की कुर्सी थी। सर गंगाराम को पूछने पर पता लगा कि वह अफसर बड़ा इंजीनियर है। सर गंगाराम को अपनी इस असावधानी से खेद तो अवश्य हुआ, किन्तु साथ ही उनके हृदय में पुरुषार्थ की भावना भी उत्पन्न हो उठी।

सर गंगाराम ने अपनी इस भावना को उसी समय पुरोहित से व्यक्त कर भी दिया, जो कुछ ही देर पश्चात् सर गंगाराम जी से उसी कमरे में मिला। पुरोहित ने सर गंगाराम जी को बड़े प्रेम से बिठालते हुए पूछा—"तुमने तो अब एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास कर ली। अब क्या करने का विचार है ?"

सर गंगाराम ने उत्तर दिया, 'निकला तो था घर से नौकरी के लिए, किन्तु अब नौकरी न करूँगा। अब तो इंजीनियर बनकर उसी कुर्सी पर बैठूँगा, जहाँ से आज उठाया गया हूँ।' पुरोहित आँखों में आश्चर्य भरकर सर गंगाराम की ओर देखने लगा। सर गंगाराम की बातें उसे एक अनुभव-हीन युवक की ही भांति ज्ञात हुईं। उसे क्या मालूम था, कि आज जो यह युवक कह रहा है, एक दिन उसको पूरा कर दिखायेगा ? कुछ ही वर्षों के पश्चात् सचमुच संसार ने आश्चर्य के साथ देखा कि सर गंगाराम उसी कुर्सी पर सम्मान के साथ विद्यमान थे। यह है सर गंगाराम का पुरुषार्थ और उनका उद्योग। क्या इस प्रकार के उद्योगी विद्यार्थी फिर भारतवर्ष में न उत्पन्न होंगे ? भारतवर्ष आज बड़ी आशा-आकांक्षा के साथ अपने विद्यार्थियों की ओर देख रहा है। आशा है वे अकर्मण्यता और फ़ैशन-परस्ती का त्याग करके पुरुषार्थ के मार्ग पर चलेंगे। बीमार भारतीय जीवन की यही महौषधि है।

सर गंगाराम १८५१ में पंजाब प्रांत के शेखूपुरा में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता लाला दौलत राम जी वास्तव में संयुक्त प्रांत के

सहारनपुर ज़िले के निवासी थे, किन्तु वे पंजाब में जाकर बस गये थे और अमृतसर में कोर्ट इन्स्पेक्टर थे। साधारण आर्थिक स्थिति थी। सर गंगाराम न तो अधिक सुखों की गोद में पले और न उन्हें अधिक कष्ट ही उठाने पड़े। जिस प्रकार एक साधारण कुटुम्ब का लड़का पढ़ता-लिखता और अपने जीवन को व्यतीत करता है उसी प्रकार सर गंगाराम जी ने भी किया। इन्होंने एन्ट्रेन्स की परीक्षा पंजाब से 'ही पास की। एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास करने के पश्चात् सर गंगाराम जी शीघ्र-से-शीघ्र किसी काम में लग जाना चाहते थे, किन्तु प्रकृति ने ठोकर मारकर उनके पुरुषार्थ को जगा दिया और इसका श्रेय उस घटना को है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उसी घटना ने ही सर गंगाराम की रगों में आगे बढ़ने की लहर दौड़ाई और वे इंजीनियर बनने के लिए कटिबद्ध से हो गये। यद्यपि सर गंगाराम जी के जीवन के सामने भयानक कठिनाइयाँ थीं, किन्तु क्या वे इन कठिनाइयों से भयभीत होकर अपने जीवन-व्रत से विचलित हो सकते थे? नहीं, वे पुरुषार्थी थे, जीवन और जागृत के सहचर थे। कठिनाइयों के काँटे उनके लिए फूल थे, कलियाँ थीं। वे कभी जीवन में कठिनाइयों से न हिचके। बढ़े तो आगे इतने बढ़ते ही गये, चले तो आगे चलते ही गये।

सर गंगाराम जी इंजीनियर बनने की प्रतिज्ञा कर चुके थे, अतः वे रुड़की के टामसन कालेज में भरती हो गये। सर गंगाराम जी पुरुषार्थी तो थे ही इंजीनियरिंग परीक्षा उन्होंने सम्मान-

यह स्पृहा इस भांति जागृत हुई कि इन्होंने सार्वजनिक सेवाओं में अपने को लीन कर दिया। यहीं तक नहीं, कहना तो यह चाहिये कि इन्होंने सार्वजनिक सेवाओं पर अपने को उत्सर्ग कर लिया। जो कुछ प्राप्त किया, उसका अधिकांश भाग लोक-कल्याण में व्यय कर दिया। आज उसी से तो भारत की सहस्रों विधवाओं के मुख में अन्न जा रहा है और मिल रहा है उन्हें तन ढकने के लिए कपड़ा।

सर गंगारम जी के जीवन का वह मार्ग सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है, जहां वे एक 'ऊसर' जमीन को उपजाऊ बनाते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ उनका वह पुरुपार्थ दिखाई देता है जिसकी आज हम सब प्रशंसा करते हैं और जिसके कारण स्वयं सर गंगाराम जी भी संसार में धन्य बन सके हैं। जिस समय सर गंगाराम ने सरकारी नौकरी का परित्याग किया था, उन्हें चिनाव की नहर पर बीस एकड़ भूमि दी गई थी। वह भूमि किसी काम की नहीं थी, और बहुत दिनों से वंजर के रूप में पड़ी हुई थी। सर गंगाराम जी उसी भूमि को उपजाऊ बनाने में लग गये। इन्होंने अनेक वैज्ञानिक रीतियों का अवलम्बन किया और उनके द्वारा उस बंजर भूमि को इतना अधिक उपजाऊ बना दिया, कि लोग आश्चर्य-चकित हो उठे। सर गंगाराम जी इस भूमि को उपजाऊ बना करके ही बैठ नहीं गये, बल्कि उनकी दृष्टि आस-पास की भूमि पर भी पड़ी। उसी के आस-पास कुछ और भी ऐसी भूमि पड़ी हुई थी, जो पानी के धरातल से बहुत ऊँची थी

और जिससे किसी को भी कोई लाभ नहीं पहुँच रहा था। सर गंगाराम जी ने उस भूमि के लिए भी सरकार से निवेदन किया और सरकार ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार करके पचास वर्ग एकड़ भूमि का एक खण्ड दे दिया। सर गंगाराम जी ने इस भूमि को उपजाऊ बनाने में जिस साहस, शक्ति, पुरुषाथ और बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, वह प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति के अध्ययन करने की वस्तु है। सर गंगराम जी ने मशीन लगाकर जल को ऊपर उठाया और इंजनों की सहायता से सारी भूमि जल से तर कर दी। फिर क्या! फिर तो उस वंजर भूमि में ही हरे-भरे पौदे लहलहा उठे। सर गंगाराम जी के इस महान् पुरुषार्थ को देखकर सरकार आश्चर्य-चकित हो उठी और जनता अत्यन्त मुग्ध। सरकार ने सर गंगाराम जी पर प्रसन्न होकर उन्हें इसी प्रकार की चालीस वर्ग एकड़ भूमि और दी। सर गंगाराम जी ने उसे भी उपजाऊ बनाया। जहाँ कभी चारों ओर धूल उड़ती थी, वहाँ अन्न की वर्षा होने लगी। थोड़े ही दिनों में सर गंगाराम जी मालामाल हो गये।

सर गंगाराम जी का वह पुरुषार्थ आज भी हरे-भरे पौदों के रूप में लहलहा रहा है। एक ओर हरे-भरे पौदे हवा में झूम रहे हैं, दूसरी ओर किसानों के झोंपड़े उनकी कीर्ति के गीत गा रहे हैं। एक ओर बिजली का विस्तृत कारखाना भी चमक रहा है। कोई उस स्थान को देख कर यह नहीं कह सकता है कि कभी यहाँ ऊसर था। सर गंगाराम जी ने अपने पुरुषार्थ से उसका स्वरूप

कुछ क्षीण हो चला था। इस यात्रा ने उन्हें और भी दुर्बल बना दिया। उन्हें हृदय-रोग हो गया और इस रोग ने भारत के इस हृदय को छीन लिया।

सर गंगाराम ने एक आदर्श उपस्थित किया। साहस और जीवट के बल से उन्होंने असम्भव को सम्भव कर दिखाया। उनका अनुकरणीय जीवन नवयुवकों को सदा शक्ति प्रदान करता रहेगा।

भारतीय वैज्ञानिक का अध्यवसाय

(सर जगदीशचन्द्र बोस)

[उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में कई महापुरुष पैदा हुए। वैज्ञानिक अनुसन्धान में भी भारत ने जो गवेषणा की, उससे संसार चकित रह गया। वनस्पतियों में भी प्राण होते हैं, वनस्पति-जगत् भी सोता-जागता तथा सुख-दुख की अनुभूति करता है, इस विचार को यन्त्रों द्वारा सिद्ध करने का श्रेय हमारे वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बोस को है। इस पाठ में उसी वैज्ञानिक का परिचय दिया जा रहा है।]

संसार के साहित्य में जिस प्रकार श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत के लिए एक आदरणीय स्थान प्राप्त किया है, संसार की राजनीति में जिस प्रकार महात्मा गाँधी ने भारत को दृढ़ स्थान प्रदान कराया है, वैसे ही स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्र बोस ने वैज्ञानिक जगत् में भारत का मस्तक ऊँचा किया। सच तो यह है कि विश्व में भारत की धाक उन्होंने कवीन्द्र और महात्मा गाँधी से भी पहले जमाई थी। विश्व को जो सन्देश कवीन्द्र ने अपनी वाणी द्वारा और महात्मा गाँधी ने अपने कार्यों द्वारा दिया वही सन्देश सर जगदीश ने अपने वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा दिया है। उसके वैज्ञानिक अनुसन्धान पाश्चात्य वैज्ञानिकों की भाँति नर-संहारक या सांसारिक सुख-भोग-प्रेरक न थे। उन्होंने उसी चिरन्तन सत्य को वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा प्रमाणित किया

है, जिसे भारत के प्राचीन ऋषियों ने अपने तपोवनों में देखा था। सब संसार प्राणमय है, इसलिए सब प्रेममय हो, यही सर जगदीश का सन्देश था और यह सन्देश कोरी कल्पना नहीं थी; उन्होंने इसको "अप-टू-डेट" वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध करके दिखा दिया था। फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक रोम्याँ रोला ने उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए ठीक ही कहा था—

"ओ जादूगर! तुमने हमें विश्व के उस मूक जीवन के द्वार तक पहुँचाया है, जो अभी कल तक मृत और निशा के अन्धकार में विलीन समझा जाता था। यह स्पष्ट है कि इस शताब्दी में भारत *बिना कुछ गँवाये योरुप के बौद्धिक प्रयत्नों में इतना भाग* लेगा कि संसार को आत्मज्ञान हो जायगा।"

वृक्ष, पौधों और घासों में भी जान होती है। वे भी सुख-दुख का अनुभव करते हैं, और हँसते तथा रोते हैं। यह भारतीय दार्शनिक कहा अवश्य करते थे, परन्तु इन सबको प्रत्यक्ष दिखाने का श्रेय सर जगदीश को ही प्राप्त हुआ है। उन्होंने ऐसे भाव-ग्राही नाज़ुक यन्त्र बनाये, जिनके द्वारा इन जड़ पदार्थों का सुख-दुख जानना भी सम्भव हो गया। योरुप और अमरीका के अनेक वैज्ञानिकों ने इन यन्त्रों की परीक्षा की और इनकी क्षमता को स्वीकार किया।

वनस्पतियों में एक प्रकार की चेतन-शक्ति होती है, इसमें सर जगदीश और महात्मा गाँधी दोनों महापुरुषों का बराबर विश्वास

रहा है। इस सिलसिले में एक मनोरंजक घटना का उल्लेख करना अनुचित न होगा। सन् १६१५ ईस्वी की बात है महात्मा गाँधी पहले-पहल कलकत्ता में सर जगदीश की प्रयोगशाला देखने गये थे। जब सूर्य डूबने लगा तब महात्मा गाँधी ने अपने नित्य के अनुसार प्रार्थना करने की इच्छा प्रकट की। सर जगदीश और उनके शिष्य भी इस प्रार्थना में सम्मिलित हुए। उस समय इन

...रिकाना न रहा जब उन्होंने देखा कि स्क्रीन

...ो सुई एक ताड़ की पत्तियों की गति

... जान पड़ता था मानो पत्तियाँ प्रार्थना

... अपने हाथ जोड़ रही हैं। इस घटना

... प्रभाव पड़ा। उस क्षण से उन्होंने

... कभी सूर्यास्त के बाद फूल या पत्ती को

... मत है कि सूर्यास्त के पश्चात् ये वन-

...ा प्रार्थना करती हैं।

... ‘मैनचेस्टर गार्डियन’ ने सर जगदीश

... एक सम्पादकीय लेख प्रकाशित किया। उसमें उनकी युवावस्था की विलायत की उन यात्राओं का जिक्र किया गया जो वे विश्राम ग्रहण करने से पूर्व प्रतिवर्ष किया करते थे और पौधों की सजीवता प्रमाणित करने के लिए वहाँ के विश्वविद्यालयों में भाषण देते थे। योरुप वालों के हृदय में पौधों की चेतन-शक्ति के प्रति सहानुभूति युक्त ज्ञान प्रदान करने की उन्हें इतनी धुन थी कि उन्होंने २० वर्ष तक प्रतिवर्ष इंगलैण्ड का दौरा किया

था। उक्त लेख में पत्र के संवाददाता की एक मीटिंग का संवाद भी उद्धृत किया गया है, जिससे सर जगदीश के चरित्र पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। उद्धरण इस प्रकार है—

"गार्डियन के संवाददाता को महायुद्ध के पश्चात् की एक स्मरणीय मीटिंग की याद है। यह मीटिंग 'इण्डिया आफिस' में तीसरे पहर हुई थी। लार्ड बालफोर सभापति के आसन पर विराजमान थे। सर जगदीश अपने पौधों का संकेत अंकित करने वाले यन्त्र के साथ भाषण कर रहे थे। उस यन्त्र को उन्होंने अपने ही निरीक्षण में तैयार कराया था और उसमें बराबर सुधार करते रहते थे। वह यन्त्र बहुत ही नाजुक था। सर जगदीश का कद छोटा था। उनके बाल भूरे और घने थे और उनका सिर एक बंगाली के सिर का अच्छा नमूना था। वे अँग्रेजी बहुत शुद्ध लिख सकते थे, परन्तु साफ-साफ अँग्रेजी बोलने का प्रयत्न उन्होंने कभी नहीं किया। वे अपने विषय में तल्लीन थे और अन्त तक बराबर उत्साह से बोलते रहे। प्रत्येक बात का प्रदर्शन वे बालकों की सी उत्सुकता और प्रसन्नता के साथ करते थे और अपने सम्भाषण में हास्य का भी अच्छा पुट देते थे। उनकी जैसी ख्याति किसी भारतीय वैज्ञानिक ने संसार में नहीं प्राप्त की। साथ ही किसी 'रिसर्च' करने वाले का उसके समय में इतना विरोध भी नहीं हुआ जितना कि उनका हुआ था। परन्तु उनके मित्रों ने उन्हें कभी उदास या आलोचकों के प्रति कटु शब्द का प्रयोग करते हुए नहीं देखा। उनमें बहुत बड़ा आत्म-विश्वास

था और उन्हें इस बादे का विश्वास था कि उनके प्रयोग और परिणामों को संसार को मानना पड़ेगा।

'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक श्री रामानन्द चटर्जी और प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर मेघनाथ साहा उनके शिष्यों में थे। श्री रामानन्द चटर्जी ने उन्हें अपने एक लेख में विज्ञान का योद्धा कहा है और उन दिनों के संस्मरण लिखे हैं जब वे प्रेसीडेंसी कालिज में प्रोफेसर थे। रामानन्द बाबू का कहना है कि यदि वे वैज्ञानिक न होते तो बंगाल के बहुत बड़े साहित्यकार हुए होते। बंगला भाषा के वे एक अच्छे लेखक थे और बंगीय-साहित्य-परिषद् के सभापति रह चुके थे। वे बहुत ही भावुक थे और कला से उन्हें विशेष प्रेम था। कुरूपता उन्हें जरा भी सह्य नहीं थी। वे सदैव साफ-सुथरी पोशाक में रहते थे। 'बोस—इन्स्टीट्यूट' की दीवारों के चित्र उनकी कला-प्रियता के प्रमाण हैं। विज्ञान-क्षेत्र में ही वे देश के सेवक नहीं थे, वे राष्ट्रीयतावादी भी थे और भारतीय संस्कृति के बहुत बड़े भक्त थे। गांव के प्रति उनके हृदय में अगाध स्नेह था। इस सम्बन्ध में रामानन्द बाबू ने एक मनोरंजक घटना का उल्लेख किया है। एक बार जब वे योरुप का भ्रमण करके स्वदेश लौटे और उनके सामने जलपान के लिये अच्छे-से-अच्छे पदार्थ रक्खे गये तब उन्होंने बिना उसको हाथ लगाये हुए कहा—"पहले लाई और हरा मिर्च लाओ।" जब ये चीजें लाई गईं, तब वे उन पर ऐसे टूटे मानों महीनों के भूखे हों। डाक्टर मेघनाथ साहा ने

नामक व्याख्यान माला के व्याख्यान देने को आमन्त्रित किये गये।

इसके बाद उन्होंने विद्युत्तरंग-ग्राहक (इलेक्ट्रिक-वेव्ज़-रिसीवर) का आविष्कार किया, जिसकी ग्राहक-शक्ति सर ओलिवर लाज के यन्त्र से कहीं अधिक थी। इस यन्त्र से बेतार के तार की तारवर्की में भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई। इस खोज से एक बार फिर वैज्ञानिक जगत् आश्चर्य में डूब गया।

उन्होंने सिद्ध किया कि क्षुद्र-से-क्षुद्र वनस्पति में भी मज्जा-तन्तु हैं और जीवधारियों से उनका इतना साम्य है कि उनकी विभिन्नता का पता लगाना कठिन है। वाह्योत्तेजन का उन पर भी वैसा प्रभाव पड़ता है। शीत से आकुंचन, मादक द्रव्य से नशा और विष से उनकी भी मृत्यु होती है। उन्होंने लीपजिग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर विलियम फेफर के सिद्धान्त का खण्डन कर यह भी दिखला दिया कि लाजवन्ती के पौदों में भी स्नायु हैं। पौधों में हृदय की-सी धड़कन; उसकी नाड़ियों द्वारा नीचे से ऊपर को रस-प्रवाह, सांस के साथ कार्बोनिक-गैस खींचना आदि का भी उन्होंने अपने यन्त्रों के द्वारा प्रत्यक्ष प्रदर्शन करके दिखला दिया।

उन्होंने अनेक यन्त्र बनाये, जिनसे पौधों के हृदय की धड़कन उनकी वृद्धि का स्वतः लेखन, उनकी संवेदना आदि कार्य देखे जा सकते हैं और दुःख होने पर रोना भी सुना जा सकता है। पौधों की नींद के घण्टों का भी उन्होंने पता लगाया।

उनका सबसे अद्भुत यन्त्र तो हाई-मेग्निफिकेशन क्रेस्कोग्राफ है, जिससे कोई भी वस्तु १० लाख गुनी बड़ी दीखती है। इससे पौधों के प्रति मिनट की वृद्धि देखी जा सकती है।

भारत सरकार ने उनको तीन बार—(सन् १६००-१६०७ और १६१४ ई० में) अपने आविष्कार संसार के सामने रखने के लिए योरुप भेजा। इसी समय इंग्लैण्ड में २८ मई सन् १६१४ ई० को उन्होंने दूसरी बार 'फ्राइडे-ईवनिंग-डिस्कोर्स' का व्याख्यान दिया। लन्दन में उनकी 'मेडेवल-प्रयोगशाला' को देखने के लिए दूर-दूर से प्रसिद्ध वैज्ञानिक आए। इसी समय वे अमरीका भी बुलाये गए। अमरीका में उनको इतनी संस्थाओं ने निमन्त्रित किया कि यदि वे प्रतिदिन दो व्याख्यान देते तो भी एक साल में सब जगह व्याख्यान न दे पाते। भारत-मन्त्री ने उनकी अपूर्व खोजों के लिए उनको तीस सहस्र रुपए की रिकरिंग ग्रांट ५ साल के लिये दी।

१८ दिसम्बर १६१३ ई० को उनको 'रायल कमीशन आफ पब्लिक सर्विस' ने गवाही देने को बुलाया। उन्होंने अपनी गवाही में अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों के वेतनों में अन्तर का विरोध किया और बिना रंग-पक्षपात के योग्यतानुसार नौकरियाँ देने की अपील की।

सन् १६१३ ई० में उन्होंने ५ लाख रुपये की लागत से कलकत्ता में 'बोस-इन्स्टीट्यूट' स्थापित किया। वहाँ अपनी खोज और आविष्कार का संग्रह किया। बाद में यह संस्था उन्होंने देश को दान कर दी।

सर जगदीश चन्द्र बहुत मितव्ययी थे। उनकी वार्षिक आय लगभग ५० हज़ार रुपया थी। इसमें से वे लगभग चालीस हज़ार रुपया बचा लेते थे। परन्तु इस बचे हुए धन को वे व्यक्तिगत कार्यों में न लगाकर भारत में विज्ञान की उन्नति और प्रसार करने में व्यय करते थे। इस सम्बन्ध में अपने जीवन-काल में वे लगभग सवा लाख रुपया दान कर चुके थे। वे चार लाख रुपया छोड़ कर मरे, परन्तु यह भी उन्होंने अपनी मृत्यु के समय शिक्षा-सम्बन्धी विभिन्न संस्थाओं को दान कर दिया। इस प्रकार उन्होंने अपना सारा ज्ञान, अपनी सारी शक्ति और अपनी सारी कमाई देश के लिए उत्सर्ग कर दी। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि वे कितने महान् थे।

बादल

किसी समय मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ थी। जब दिल्ली में अलाउद्दीन खिलजी राज्य करता था उस समय चित्तौड़ की राजगद्दी पर राना लक्ष्मणसिंह थे। इनकी अवस्था छोटी होने के कारण राज्य का काम इनके चाचा भीमसिंह चलाते थे।

भीमसिंह का विवाह सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मिनी के साथ हुआ था। रानी पद्मिनी बहुत सुन्दरी थीं। उनकी सुन्दरता की चर्चा देश-भर में फैल रही थी। होते-होते यह चर्चा दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के कान तक पहुँची। बादशाह बड़ा कपटी, दुष्ट और लम्पट था। पद्मिनी की सुन्दरता की चर्चा सुनकर उसने पद्मिनी को अपनी बेगम बनाने का विचार किया।

ऐसा विचार कर अलाउद्दीन ने भारी फ़ौज इकट्ठी की और चित्तौड़ को जा घेरा। इस तरह घेरा डाले-डाले बारह वर्ष बीत गये, पर अलाउद्दीन किले के भीतर न घुस सका। निदान थककर उसने यह ख़बर फैला दी कि यदि मुझे पद्मिनी की परछाईं दर्पण में ही दिखा दी जाय तो मैं घेरा उठाकर दिल्ली को लौट जाऊँगा। राणा भीमसिंह ने अपने सरदारों की सलाह ली, और यह तय हुआ कि रानी पद्मिनी की परछाईं दिखा देने में कोई बुराई नहीं है।

अलाउद्दीन यह सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ, और थोड़े से सिपाहियों को साथ लेकर किले के भीतर गया। वह अच्छी तरह जानता था कि राजपूत बात के धनी होते हैं। वे जो कुछ कह देते हैं उसे पूरा करके दिखाते हैं। राणा भीमसिंह ने अलाउद्दीन की खूब आव-भगत की और एक बड़े भारी दर्पण के सामने अलाउद्दीन को ले जाकर खड़ा किया। वहीं रानी पद्मिनी भी खड़ी हुईं। अलाउद्दीन ने दर्पण में पद्मिनी की परछाईं देखी और पद्मिनी की सुन्दरता देखकर मुग्ध हो गया। फिर वह राणा भीमसिंह के साथ-साथ मीठी-मीठी बातें करता हुआ अपने डेरे को लौटने लगा। अलाउद्दीन ने भीमसिंह को इस तरह बातों में लगा लिया कि वे बातें करते-करते उसके डेरे तक चले आये। डेरे में पहुँचते ही कपटी अलाउद्दीन ने सिपाहियों को इशारा किया और सिपाहियों ने राणा भीमसिंह को घेर कर बन्दी बना लिया। फिर अलाउद्दीन ने यह खबर फैला दी कि यदि चित्तौड़ के लोग राणा साहब को छुड़ाना चाहते हों, तो वे रानी पद्मिनी को मेरे हवाले कर दें।

रानी पद्मिनी जैसी सुन्दरी थीं वैसी ही वीर भी थीं। उन्होंने अपने चाचा गोरा और दूसरे सरदारों से सलाह ली और राणा भीमसिंह को छुड़ाने का निश्चय किया। फिर एक दूत को अला-उद्दीन के पास भेजकर कहला भेजा कि मैं अपने पति को छुड़ाने के लिए आती हूँ, पर मेरी दो शर्तें हैं। एक शर्त तो यह कि मुझे अपने पति के साथ एक बार भेंट करने दी जाय, और दूसरी शर्त

यह है कि मेरे साथ जो सहेलियाँ रहेंगी उनके साथ कोई छेड़छाड़ न की जाय। अलाउद्दीन ने ये दोनों शर्तें मंजूर कर लीं। राजपूतों ने जब सुना कि रानी पद्मिनी अलाउद्दीन के डेरे को जाने वाली हैं, तब वे आश्चय-चकित रह गए।

रानी पद्मिनी तैयारी करके एक पालकी में सवार हुईं। उनके साथ ७०० बन्द पालकियाँ चलीं। एक-एक पालकी में छः छः तगड़े कहार लगे थे। ये सब पालकियाँ अलाउद्दीन के डेरे में पहुँचकर एक जगह उतारी गईं। वहीं एक डेरे में रानी पद्मिनी पहुँच गईं। राणा भीमसिंह को पद्मिनी से मिलने के लिए आधे घण्टे का समय दिया गया। ज्योंही भीमसिंह पद्मिनी के डेरे में पहुँचे, त्योंही थोड़े-से वीर राजपूत उन्हें एक बन्द पालकी में बैठाकर बाहर ले गये। थोड़ी दूर पर राणा की सवारी के लिए एक कसा-कसाया तेज़ घोड़ा तैयार था। राणा उस पर बैठकर चित्तौड़ के क़िले में जा पहुँचे। यहाँ अलाउद्दीन पद्मिनी से मिलने के लिए अधीर हो रहा था। जब आधा घण्टा बीत गया, तब वह रानी पद्मिनी के डेरे की ओर चला। उसके साथ कुछ सिपाही भी चले।

अलाउद्दीन का वहाँ पहुँचना था कि हरएक पालकी में से सहेली के बदले एक-एक तगड़ा और हथियार-बन्द राजपूत निकल पड़ा। हर एक कहार भी हथियार-बन्द योद्धा निकला। अब क्या था, वीर राजपूत अलाउद्दीन पर टूट पड़े। अलाउद्दीन के साथ जो सिपाही थे उनके साथ भयंकर युद्ध होने लगा। प्रत्येक पालकी

में जो एक राजपूत बैठा था और जो कहार लगे थे, वे सब चित्तौड़ की सेना के चुने हुए वीर थे।

अलाउद्दीन की फ़ौज भी पास ही थी। वह भी आ डटी और वीर राजपूतों और अलाउद्दीन की सेना के बीच तलवारें खनकने लगीं। राजपूतों के हृदय में अदम्य उत्साह और अपने वंश की पवित्रता रक्षित रखने का प्रश्न था। इनमें से एक-एक वीर शत्रु-सैन्य के कई वीरों के बराबर था। इस युद्ध का संचालन पद्मिनी के एक भाई बादल के हाथ में था। इसका रूप पद्मिनी के ही समान था। बादल उन ७०० पालकियों के साथ इसलिए भेजा गया था कि यदि आवश्यकता पड़ गई तो पद्मिनी के स्थान में बादल ही को बतलाकर अलाउद्दीन को चकमा दिया जाय। पर, घटनाचक्र इस प्रकार चला कि बादल को सैन्य-संचालन का भार लेना पड़ा। इस युद्ध में बारह वर्ष के इस वीर बालक ने वह वीरता दिखाई कि शत्रुओं के छक्के छूट गये। बादल के पास ही उसके चाचा गोरा लड़ रहे थे, जो बीसों वीरों को रणक्षेत्र में सुलाकर स्वर्ग सिधारे। रणक्षेत्र बादल के हाथ रहा। बादल विजय-लक्ष्मी प्राप्त कर अपनी चाची अर्थात् गोरा की पत्नी के निकट गया और उससे वीरवर गोरा के वीर कृत्यों की बात बहुत उत्साह के साथ कह सुनाई। वह वीरांगना अपने पति की वीर गाथा सुनकर फूली न समाई। निदान वह हँसते-हँसते चिता में प्रवेश कर शीघ्र ही उस लोक में अपने पति से जा मिली। वीर बालक बादल की वीरता आज भी वीरता के इतिहास में अनुपम है।

पुत्र

भारतवर्ष की वीरता के इतिहास में मेवाड़ का नाम अग्रगण्य है। इस वीर-प्रसविनी भूमि में ऐसे-ऐसे पुरुष-रत्न उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने अपनी वीरता से मातृभूमि का मस्तक ऊँचा किया है। वीरवर बप्पा रावल, राणा सांगा, हमीर, प्रताप इसी भूमि में उत्पन्न हुए थे। समय के फेर से मेवाड़ अब वह मेवाड़ नहीं है, पर उसके उज्ज्वल अतीत की वीर-गाथाएँ आज भी कायरों में वीरता का संचार करती हैं।

उसी मेवाड़ की ओर प्रतापी मुग़ल बादशाह अकबर की दृष्टि लगी थी। अकबर की अवस्था इस समय लगभग २५ वर्ष की थी। जवानी का नया जोश था। उसने देखा कि मेवाड़ को छोड़ कर प्रायः समस्त राजस्थान मेरी अधीनता स्वीकार कर चुका है। किसी प्रकार मेवाड़ को भी वश में लाना होगा। यह विचार कर उसने विशाल सेना के साथ मेवाड़ के प्रधान गढ़ चित्तौड़ को जा घेरा।

वीर राजपूतों ने गढ़ के सूर्यद्वार को बन्द करके उसकी रक्षा का भार सँभाला और केसरिया वस्त्र पहन रणस्थल में आ उतरे। मुग़ल-सेना अग्नि-शस्त्रों से सुसज्जित और बहुत विशाल थी। राजपूतों की छोटी-सी सेना की तुलना मुग़ल-सेना से किसी प्रकार नहीं हो सकती थी। पर, राजपूतों में मातृभूमि की रक्षा का

अदम्य उत्साह और अटल धैर्य था, जिसके सामने प्राणों का मोह टिक न सकता था। इस सूर्यद्वार की रक्षा का भार वीर जयमल ने अपने ऊपर लिया और थोड़े-से वीर साथियों के साथ वहाँ आ डटा। मुग़लों ने सारी शक्ति लगाकर सूर्यद्वार को तोड़ना चाहा, पर वे सफल न हो सके। निदान अकबर की आज्ञा से द्वार के नीचे सुरंग लगाकर उसे उड़ा देने का निश्चय किया गया।

जयमल ने देखा कि अब सूर्यद्वार को बचाना कठिन है। तब उसने अपनी वीर-पत्नी कर्मदेवी से कहा—"देखो प्रिये, अब प्यारे पुत्र पुत्त की रक्षा का भार तुम पर है। यद्यपि वह वीर है, पर है १६ वर्ष का बालक ही। कहीं ऐसा न हो कि प्राणों के मोह में पड़कर वह अपना कर्तव्य भूल जावे। तुम ने भी जो शस्त्र-विद्या सीखी है, उसे काम में लाना और जन्मभूमि की रक्षा करना—यही हमारी अन्तिम कामना है।" इतना कहकर उसने अपनी पत्नी के हाथ से विदाई का बीड़ा खाया, और सूर्यद्वार की ओर जा मुड़ा। उसी समय मुग़ल-सेना ने सुरंग-द्वारा सूर्यद्वार को उड़ा दिया, और अगणित वीर उसकी रक्षा करता करते हुए उड़ गये। वीर जयमल भी यहीं काम आया।

इसके बाद जयमल का स्थान उसके वीर पुत्र 'पुत्त' ने लिया। पुत्त अभी था तो १६ वर्ष का बालक ही, पर अपने वंश की वीर-परम्परा से पूर्णतः परिचित था। वीरता का रक्त उसकी नस-नस में प्रवाहित हो रहा था। उसकी नव-विवाहिता पत्नी कमलावती

भी उसी प्रकार वीर थी। पुत्त की बहिन कर्णवती, और माता कर्मदेवी की वीरता का तो पूछना ही क्या था। कर्मदेवी ने पुत्त को रणक्षेत्र में जाने के लिए तैयार देखकर अपने हाथों से उसकी कमर में तलवार बाँधी, और उसे टीका लगाकर मुँह चूमा। बहिन कर्णवती ने भी टीका लगाया। निदान पुत्त की पत्नी-ने भी वीर-पूजा की। इस प्रकार पुत्त को रवाना करके वीर वेश में सुसज्जित तीनों महिला-रत्न अपने-अपने घोड़ों पर सवार होकर रणस्थली की ओर चल पड़ीं।

वहाँ मुग़ल-सेना दो भागों में विभक्त थी जिनमें से एक भाग स्वयं अकबर के सेनापतित्व में था। यह सेना पुत्त की ओर बढ़ रही थी; पर सामने से आती हुई गोलियों की बौछार के कारण उसकी गति रुक रही थी। अकबर चकित था कि ये गोलियाँ कहाँ से आ रही हैं। बहुत देर के बाद उसकी समझ में आया कि सामने तलहटी में हरे-भरे पत्तों से आच्छादित जो वृक्षावली है उसके पीछे से ये गोलियाँ आ रही हैं जिनकी मार से असंख्य मुग़ल-वीर धराशायी हो रहे हैं। अकबर उसी दिशा में बढ़ने लगा, और कुछ पास आने पर उसने देखा कि तीन महिलाएँ घोड़े पर सवार गोलियों की बौछार कर रही हैं। वीर रमणियों की यह अद्भुत वीरता देखकर अकबर चकित हो गया, और एक बार उसका मस्तक लज्जा से झुक गया।

बालको, यह वीर महिलाएँ कौन थीं ? इनमें से एक प्रौढ़ा एवं दो नवयुवतियाँ थीं। प्रौढ़ा थी पुत्त की माता कर्मदेवी,

विक्टोरिया-क्रास के भारतीय विजेता

विक्टोरिया-क्रास की स्थापना सं० १८५६ ईस्वी की २६वीं जनवरी को महारानी विक्टोरिया की एक विशेष राजाज्ञा द्वारा हुई थी। यों देखने में यह कोई बहुत बड़ी चीज नहीं है केवल कांसे का एक छोटा-सा पदक—डेढ़ इंच लम्बा और उतना ही चौड़ा—किन्तु यह सैनिकों का एकमात्र आकर्षण-केन्द्र और ब्रिटेन का सबसे बड़ा सैनिक सम्मान माना जाता है।

यह क्रास उन बहादुर सिपाहियों को दिया जाता है जो रण-क्षेत्र में बहुत बहादुरी का काम करते हैं। इस क्रास के लिए यह कोई आवश्यक बात नहीं कि इसका पाने वाला जीवित ही हो। प्रायः ऐसा होता है कि बहादुर सिपाही रणक्षेत्र में लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं और उनके पराक्रम का गुण-गान कहीं उनके बाद होता है। ऐसी स्थिति में विक्टोरिया-क्रास दिवङ्गत योद्धा के किसी निकटतम सम्बन्धी को दे दिया जाता है।

पदक के अतिरिक्त विक्टोरिया-क्रास के भारतीय विजेताओं को ७०५) वार्षिक पेंशन मिलती है। यदि विजेता की मृत्यु हो गई तो पेंशन उसकी विधवा स्त्री को आजीवन दी जाती है।

विक्टोरिया-क्रास विरले ही व्यक्तियों को मिलता है। यह प्राणों के मोल बिकता है। गत महायुद्ध में १४ भारतीय योद्धाओं

को विक्टोरिया-क्रास मिला। उनमें से कुछ भारतीय बहादुरों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

मेजर प्रेमेन्द्र सिंह भगत

इस युद्ध में विक्टोरिया-क्रास पाने वाले आप प्रथम भारतीय बहादुर हैं। आप को २३ वर्ष की अवस्था में विक्टोरिया-क्रास प्राप्त हुआ। आप पूर्वी अफ्रीका में बारूदी सुरंगों को हटाने और बिछाने वाले एक भारतीय दल के सेकेण्ड लेफ्टिनेण्ट थे। मित्र सेनायें मतमा की चौकी पर अधिकार कर चुकी थीं और इटालियन सेनायें गोंगडर की ओर हटती हुईं सुरंगों में बारूद बिछाती जा रही थीं जिससे मित्र सेनायें जल्दी आगे न बढ़ सकें।

भगत को रास्ता साफ करने का आदेश मिला। भूमि के एक-एक चप्पे पर तीन-तीन सौ सुरंगें बिछी थीं। उन्हें हटाने की चेष्टा मृत्यु को चुनौती थी। फिर भी भगत अपने साथियों के साथ बढ़े। उनकी गाड़ी सुरङ्ग से टकराकर नष्ट हो गई। कितने ही साथी हताहत हुए। परन्तु भगत पीछे न हटे। फल यह हुआ कि ४८ घण्टे में हजारों सुरंगे नष्ट कर दी गईं। वे बहुत थक गए थे। कमाण्डर के कहने पर भी उन्होंने विश्राम नहीं किया और दो दिन दो रात लगातार काम करते रहे। सुरंगों के धमाकों से उनके दोनों कानों के पर्दे फट गए और वे मूर्छित होकर गिर पड़े और, तब तक वे ५४ मील सड़क को सुरंगों से निरापद कर चुके थे।

सूबेदार रिछपालराम

आपका जन्म पटियाला-राज्य की नारनौल तहसील में बरदा नामक ग्राम के एक जाट-परिवार में हुआ था। अन्तिम समय आपकी अवस्था ४७ वर्ष की थी और छठे राजपूताना-राइफल दल में काम करते थे। इरीट्रिया में भारतीयों का एक दल रिछ-पालराम के नेतृत्व में था।

सन् १९४१ की ७वीं फरवरी की रात की बात है। शत्रु की तोपें धड़ाधड़ गोले फेंक रही थीं। इसी समय रिछपालराम ने धावा बोल दिया। शत्रु के पांव उखड़ गये और भारतीयों का अधिकार हो गया। परन्तु मुख्य सेना से अलग हो जाने के कारण इटालियनों ने उन पर छः बार भीषण आक्रमण किया। हर बार वीर सूबेदार ने उन्हें पीछे हटाया। गोला-बारूद कम पड़ जाने पर वे शत्रु के घेरे को चीर कर बाहर निकले।

१२ फरवरी को रिछपालराम ने एक बार फिर आक्रमण किया। इस बार शत्रु की तोपें कहीं अधिक भयंकर थीं। परन्तु रिछपालराम और उनके साथी आगे बढ़ते ही गये। निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचते ही एक गोला रिछपालराम की दाहिनी टांग पर पड़ा और वह कटकर अलग हो गई। फिर भी वे साथियों को आदेश देते रहे। शत्रु के प्रहार उनके शरीर को जर्जर कर रहे थे, परन्तु वे अन्त समय तक अपने साथियों को प्रोत्साहन देते रहे। अन्त

में निर्दिष्ट स्थान को उनके साथियों ने अपने अधिकार में करके ही दम लिया।

रिछपालराम का पदक १६४१ ई० में १० नवम्बर को उनकी विधवा पत्नी को दिया गया। उनका पुत्र भी साथ था।

सूबेदार लाल बहादुर थापा

लाल बहादुर सोपसाथप-थटेहप नामक एक पर्वतीय ग्राम के निवासी हैं। स्थान नेपाल स्टेट में है। ये द्वितीय गुरखा-राइफल-दल के सूबेदार हैं। इन्होंने इस युद्ध में पाँचवाँ विक्टोरिया-क्रास प्राप्त किया है। ५ अप्रैल १६४२ की रात को थापा ने ट्यूनीसिया के रणक्षेत्र में अद्भुत वीरता दिखाई। उस समय वे दो दस्तों के नेता बन कर काम कर रहे थे। उन्हें उस रास्ते पर अधिकार करना था जिससे मित्र सेनाएँ रासअल-जूड़ी की पहाड़ी पर जा सकती थीं। उस पर कब्जा करने के लिए केवल एक ही मार्ग था। दस्तों की योजना की सारी सफलता पहाड़ियों पर कब्जा करने पर थी। यह रास्ता पहाड़ों के बीच एक तंग रास्ते तक गया था जहाँ शत्रु की बहुत सी विमान-वेधी तोपें और मशीन गनें लगी हुई थीं। थापा समझ-बूझ कर आगे बढ़े। सबसे पहले एक रास्ते पर शत्रु से पैदल ही मुठभेड़ हुई। शत्रु सैनिकों को खुखरी या किर्च से मारते हुए आगे बढ़ कर वे एक छोटे-से मैदान में पहुँचे, जिसके चारों तरफ ऊँची-सीधी पहाड़ियाँ थीं। कहीं-कहीं वे पहाड़ियाँ बिल्कुल सीधी थीं और उन्हें पार करना अत्यन्त कठिन था। शत्रु ने इस मैदान पर धुआँधार गोलाबारी कर दी।

लेकिन लाल बहादुर अपनी सेना को आगे बढ़ाते गये। वे शत्रु की मशीन गनों की बौछार और हथगोलों की वर्षा की परवाह न कर लड़ते-लड़ते एक तंग मार्ग तक पहुँच गए जहाँ सैनिक-गतिविधि के लिए बहुत कम स्थान था। ऐसी स्थिति में लाल बहादुर आगे बढ़े। दो आदमियों को खुखरी से मार कर तथा दो को रिवाल्वर से ठिकाने लगा कर वे सैनिकों को साथ ले पहाड़ की चोटी पर पहुँच गये। इस गुरखा अफसर ने दो और सैनिकों को खुखरी से मारा। शत्रु के सैनिक भाग खड़े हुए। इसके बाद उन्होंने सारी पहाड़ी पर कब्जा कर लिया।

हवलदार मेजर छैलूराम

मेजर छैलूराम हिसार जिले की भिवानी तहसील के धेनोदे गाँव के रहने वाले थे और जीराम के पुत्र थे। पाँचवीं भारतीय पैदल सेना ट्यूनीशिया में टेबेलगासी नामक स्थान पर आक्रमण कर रही थी। शत्रु गोले बरसा रहे थे। आगे बढ़ना कठिन था। मेजर छैलूराम एक टामी बन्दूक लेकर मशीनगन और गोलों की भीषण बौछार के बीच में आगे झपट गये। उन्होंने अकेले ही मशीनगन को ठंडा कर दिया। इसके चार चालकों में से तीन को मार डाला और इस प्रकार आगे बढ़ने का रास्ता साफ कर दिया। धावे में कम्पनी के कमाण्डर को चोट लगी। हवलदार मेजर बिल्कुल अरक्षित दशा में उनकी सहायता कर रहे थे कि गोली उनको छेदती हुई चली गई। फिर भी वे उमड़कर लोहा लेने के लिए तैयार हो गये। इसके बाद जो भयानक हाथापाई की

लड़ाई हुई उसमें छैलूराम बराबर दौड़-दौड़ कर साथियों को प्रोत्साहन दे रहे थे। शत्रु परास्त हुए। विजय तो हुई, किन्तु छैलू हमेशा के लिए विदा हो गये।

हवलदार गर्जे घाले

हवालदार गर्जे घाले नेपाल के गोरखा जिले के बारपक गांव के हैं और विक्रम घाले के पुत्र हैं। गत युद्ध में भारतीय सेना के विक्टोरिया-क्रास पाने वाले आप सातवें व्यक्ति हैं। आप २५ मई को जापानियों से लड़ते हुए घायल हुए और इसी दिन उन्हें अपने पराक्रम तथा वीरता के कारण विक्टोरिया-क्रास का सम्मान प्राप्त हुआ।

जिस लड़ाईमें हवलदार गर्जे घाले ने असाधारण वीरता दिखाई थी, वह चीन की पहाड़ियों में हुई थी। इस लड़ाई में एक बड़ी जापानी सेना को रोकने के लिये एक पहाड़ी पर अधिकार करना था जो सैनिक दृष्टि से शत्रु के लिए विशिष्ट महत्व की थी। दो बार आक्रमण निष्फल हो चुका था। हवलदार गर्जे घाले की कम्पनी के दो 'प्लाटूनों' तथा एक अन्य बटालियन की दो कम्पनियों को तीसरा आक्रमण करने का आदेश दिया गया। इस अफसर की अधीनता में उपर्युक्त दो में से एक प्लाटून था, जिसमें मुख्यतः नवयुवक ही थे।

प्लाटून के लिए लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग एक सँकरी ऊँची भूमि से होकर था, जिसके दोनों ओर खड्डे थे और जिसमें जंगल नहीं था। इसके विपरीत शत्रु की चौकियाँ छिपी हुई थीं।

कहीं-कहीं तो मार्ग की चौड़ाई केवल ५ गज रह गई थी। पहाड़ी की ढाल से उस पर गोलाबारी हो रही थी। आक्रमण की तैयारी करते समय प्लाटून पर गोलों की जोरदार वर्षा होने लगी लेकिन निश्शंक भाव से हवलदार गजें घाले ने अपने सैनिकों को एकत्र कर आगे बढ़ाया। निकट पहुँचने पर प्लाटून को खाइयों में जमे शत्रु के सैन्य-दल की भयानक अग्निवर्षा का सामना करना पड़ा। शत्रु के हथगोले के कारण गजें घाले की बाँह, छाती और पैर में चोट आई। फिर गजें घाले सभी तरफ से होने वाली भीषण अग्नि-वर्षा की उपेक्षा कर, अपने सैनिकों को शत्रु के बिल्कुल निकट ले आए। इसके बाद घमासान युद्ध हुआ। उत्कृष्ट नेतृत्व के कारण लड़ाई के बीच वे ही दिखाई दे रहे थे। हवलदार गजें घाले ने एक के बाद एक कितने ही आक्रमणों का नेतृत्व किया। प्लाटून ने बहुसंख्यक जापानियों को हताहत करके उस पहाड़ी पर अधिकार कर लिया। इसके बाद हवलदार भयंकर अग्नि-वर्षा के होते हुए भी इनके प्रयत्नों द्वारा जीती हुई पहाड़ी की रक्षा करते रहे।

नायक नन्दसिंह

नन्दसिंह पटियाला राज्य के बहादुरपुर के निवासी हैं। ये ११वीं सिख रेजीमेंट के नायक थे। गत युद्ध में ये आठवें विक्टोरिया-क्रास के विजेता हैं।

११ और १२ मार्च की रात को [illegible] मशीनगनों तथा हथगोले फेंकने वाले यन्त्रों से सुसज्जित ४० शत्रु-सैनिकों का एक

दल ११ सिख रेजिमेंट के मोर्चे में चुपचाप घुस आया। यह मोर्चा मोंगडावुथिडांग सड़क की रक्षा करता था। यह स्थान काला पानजिन घाटी में फास्टफिंग नाम से प्रसिद्ध है। शत्रु द्वारा अधिकृत ठिकाने से उस सड़क के लिए खतरा था और इस पर किसी भी प्रकार से अधिकार करना आवश्यक था। पहाड़ी की ढलान में रात के समय खाइयां और गड्ढे खोद लेने के लिए शत्रु को पर्याप्त समय मिल गया। नायक नन्दसिंह उस अगले दल का नेतृत्व कर रहे थे, जिसे जापानी ठिकानों पर फिर से अधिकार करने की आज्ञा दी गई थी। वह अपने सैनिकों को पहाड़ी के ऊपर ले गये और शीघ्र ही वहाँ जा पहुँचे जहाँ शत्रु गोलियों की बौछार कर रहे थे। जाँघ में चोट लग जाने पर भी वे आगे बढ़े और लौटकर अपनी संगीन की सहायता से खाई पर अधिकार कर लिया। कुछ मिनटों के बाद, जब उनके दल के प्रायः सभी सैनिक हताहत हो गये, नन्दसिंह ने हाथों और घुटनों के बल आगे बढ़ तीसरी खाई पर आक्रमण किया और शत्रुओं को मार कर उस पर अधिकार कर लिया। इन तीनों खाइयों पर अधिकार हो जाने से शेष प्लाटून ने पहाड़ी चोटी पर पहुँचकर शेष जापानियों को मार डाला और उनके समस्त सामान पर अधिकार कर लिया। स्वयं नन्दसिंह ने ७ जापानियों को मौत के घाट उतारा।

घावों की परवाह न करते हुए अपनी जान पर खेलने वाले नन्दसिंह की वेगपूर्ण प्रगति और दृढ़ निश्चय का ही यह परिणाम

उसकी समस्त दुकानों में मिलाकर कुल बारह सहस्र पांच सौ कर्मचारी काम करते हैं। उसका यह वैभव ही उसके पुरुषार्थ का स्पष्ट चित्र है। वर्नार्ड क्रोगार के प्रारंभिक और अन्तिम जीवन के चित्र को देख करके ही वरबस हृदय से यह निकल पड़ता है कि क्रोगार महान् पुरुषार्थी है, विषम परिस्थितियों का महान् विजेता है।

वर्नार्ड क्रोगार का प्रारंभिक जीवन बड़ा ही दुःखपूर्ण एवं अत्यन्त साधारण था। इतना साधारण था कि उसके वर्तमान जीवन को देख कर चकित हो जाना पड़ता है और आश्चर्य के साथ यह कहना पड़ता है कि यह कैसे सम्भव हुआ। वह कैसे उन्नति के शिखर पर पहुँच गया? किन्तु आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं। वह जिस उन्नति के शिखर पर आज पहुँचा हुआ है, उस पर स्वर्ण अक्षरों में लिखा है, उसका साहस। पुरुषार्थ और साहस की ही शक्ति से उसने असम्भव को सम्भव कर दिखाया, क्षुद्र से महान् बन गया। इतना महान् बन गया कि अमेरिका के बड़े-बड़े समाचार पत्र तक उसकी प्रशंसा के गीत गाते हैं। किन्तु एक दिन वह था, जब वर्नार्ड को कोई न जानता था। वह अमेरिका के शहरों में घूम-घूम कर चाय और काफी बेचा करता था। वह प्रातःकाल होते ही चाय और काफी की टोकरी सिर पर लाद लेता, और प्रत्येक मकान के द्वार पर जाकर फेरी लगाया करता था, किन्तु उसके इतने गिरे दिन थे कि कोई उससे चाय और काफी भी न खरीदता था।

जो एक बार खरीद भी लेता, वह पुनः दूसरी बार उससे खरीदने का नाम न लेता। क्रोगार जिस ओर से चाय और काफ़ी की टोकरियाँ लिये हुए निकलता, उस ओर के मकानों की नौकरानियाँ उसे देखते ही अपने-अपने द्वार को बन्द कर लेतीं। क्रोगार को इससे दुख होता और अत्यन्त आश्चर्य भी। वह मन-ही-मन सोचने लगता, आखिर इसका कारण क्या है? क्यों लोग मुझसे घृणा करते हैं? क्यों मेरी वस्तुएँ नहीं खरीदते?

कई दिन तक क्रोगार के हृदय में यही विचार चक्कर लगाते रहे। अन्त में उसने सोचा कि इसमें सन्देह नहीं कि मैं जिन वस्तुओं को बेचता हूँ, उनमें कुछ-न-कुछ त्रुटि अवश्य होगी। क्योंकि बिना त्रुटि रहे हुए कोई इस प्रकार मुझे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता। अतः अब क्रोगार अपनी वस्तुओं की भली प्रकार परीक्षा करने लगा। वह जब बेचने के लिये बाज़ार से चाय और काफी लाता तब उसकी भली-भाँति परीक्षा कर लिया करता था। वह अब अच्छी वस्तुओं को ही फेरी में ले जाता था। उसने अपना यह सिद्धान्त बना लिया कि वह थोड़ी सी ही वस्तुओं को बेचेगा, किन्तु जो बेचेगा वह शुद्ध होंगी। इस नियम और सिद्धान्त के साथ काम करने पर क्रोगार को फेरी में सफलता भी प्राप्त होने लगी। वह शुद्ध और अच्छी वस्तुओं को लेकर जिस द्वार पर जाता, वहीं उसकी चीजें सम्मान के साथ खरीदी जातीं। इस प्रकार धीरे-धीरे बर्नार्ड के ग्राहकों की संख्या बढ़ने लगी और उसका सम्मान भी होने लगा। अब घर-घर

और मुहल्ले-मुहल्ले में उसकी वस्तुओं की अधिक परिमाण में विक्री होने लगी। यहाँ तक कि लोग उसकी वस्तुओं के लिए उसका मार्ग तक देखते रहते। बहुत से लोग उसकी वस्तुओं को खरीदने के लिए उसके घर पर भी जाया करते थे।

ज्यों-ज्यों कोगार को इस कार्य में अधिक सफलता प्राप्त होने लगी, त्यों-त्यों सच्चाई और ईमानदारी के प्रति उसका विश्वास भी अधिक दृढ़ होता गया। उसे अपनी इस आंशिक-सफलता से एक सबक मिला, जो बहुत ही महत्वपूर्ण एवं अति ही उपादेय था। उसी सबक ने ही तो कोगार को जीवन-क्षेत्र में आगे बढ़ाया है, उन्नति के सिंहासन पर बैठाया है। वह सबक है—ईमानदारी और सच्चाई का। कोगार की इस आंशिक सफलता ने उसके हृदय में प्रबल रूप से ईमानदारी की प्रेरणा उत्पन्न कर दी। उसने यह निश्चय कर लिया कि वह व्यापार में सत्य को छोड़कर कभी आगे न बढ़ेगा। उसे यह भली भाँति ज्ञात हो गया कि जो लोग व्यापार में धूर्तता और अविश्वास की शक्ति से आगे बढ़ना चाहते हैं, वे, आगे बढ़ने को कौन कहे, अपना भी सर्वस्व गँवा बैठते हैं। कोगार ने आगे चलकर अपने जीवन में बड़ी सतर्कता और बड़ी सावधानी से विश्वास की रक्षा की है, उसने हानि उठा ली है किन्तु अपने विश्वास को कभी ठेस न लगने दी है। जो लोग ग्राहकों को धोखा देना ही व्यापार का मंत्र समझते हैं उन्हें कोगार के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए। कोगार ऐसे व्यक्तियों के लिए कहा करता था कि वे व्यापार-जगत्

के लिये कलंक स्वरूप हैं, जो अपने ग्राहकों को अंधकार में डाल कर उनसे अधिक-से-अधिक मूल्य वसूल करते हैं। वास्तव में ऐसे व्यक्ति व्यापार के द्वारा कभी भी उन्नति नहीं कर सकते। वे प्रारम्भ में कुछ थोड़ा सा लाभ अवश्य उठा लेते हैं किन्तु जब उनकी असत्यवादिता का भेद लोगों के सामने खुल जाता है, तब उनका सारा-का-सारा व्यापार देखते-ही-देखते विध्वंस भी हो जाता है। हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध कवि ने इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही सुन्दर दोहा लिखा है। देखिये:—

"फेर न ह्वै है कपट सों, जो कीजै व्यापार।
जैसे हांड़ी काठ की, चढ़े न दूजी बार॥"

बर्नार्ड क्रोगार इसी सिद्धान्त का व्यक्ति था। उसने इसी आदर्श-वाक्य को अपने व्यापारिक जीवन का मूल-मन्त्र बनाया था। उसकी दुकान जब छोटी सी थी, उस समय भी उसने इस मन्त्र का जाप किया और इस समय भी वह इसी मंत्र का जाप कर रहा है, जब सारे संसार में उसकी छत्तीस सौ दुकानें काम कर रही हैं। बर्नार्ड के इस सिद्धान्त ने ही उसकी कठिनाइयों को कम कर दिया। धीरे-धीरे फेरी में उसकी वस्तुओं की अधिक परिमाण में बिक्री होने लगी, और उसने बड़े परिश्रम से अपने पास एक सौ पैंतालीस पौण्ड एकत्र कर लिए। अब उसका विचार बाजार में छोटी सी दुकान खोल लेने का हुआ, क्योंकि फेरी से अधिक उन्नति की सम्भावना कम थी। क्रोगार बाजार में एक दुकान खोल कर बैठ गया। उसकी दुकान बहुत ही साधारण थी

और उसमें किराने की बहुत कम वस्तुएँ रहती थीं, किन्तु वे शुद्ध रहती थीं। कोगार अपनी दुकान के लिए जब थोक माल खरीदता, तब पहले उन वस्तुओं की भली भाँति परीक्षा कर लिया करता था। बिना परीक्षा किये हुए वह कभी किसी वस्तु को न खरीदता। यही कारण था कि उसकी दुकान में सदैव शुद्ध वस्तुएं पाई जाती थीं। जो ग्राहक एक बार कोगार की दुकान पर आ जाता, वह फिर सदा के लिए उसका ग्राहक बन जाता। ग्राहकों की सुविधा और उनके स्वास्थ्य का ध्यान निरन्तर कोगार की आँखों के सामने रहा करता था। कोगार की उस छोटी सी दुकान पर भी ग्राहकों की सदैव भीड़ लगी रहती थी।

कोगार थोड़े माल की खरीदारी में भी कितना सावधान और कितना सतर्क रहता था, उसके जीवन की एक घटना से इस प्रकार भली भाँति प्रगट हो जाता है। एक दिन किसी कम्पनी का एक एजेन्ट चाय के कुछ बन्द डिब्बे लेकर कोगार के पास गया और उससे उन्हें खरीद लेने का आग्रह करने लगा। कोगार ने चाय के उन डिब्बों को देखकर एजेन्ट से कहा—"मैं तो पहले चाय की परीक्षा करूँगा, फिर खरीदने की बातचीत"। कोगार के इस कथन से एजेन्ट आश्चर्य-चकित हो उठा था। कोगार की इस सतर्कता से उसके ग्राहकों की संख्या तो अधिक बढ़ रही थी, थोक माल के व्यापारी उसके साथ अविश्वास भी न कर सकते थे। उसके उज्ज्वल चरित्र के सम्मुख किसी में यह साहस न होता था कि कोई उसे धोखा दे। सभी उसे सम्मान और श्रद्धा की

दृष्टि से देखते थे। उसे सदा शुद्ध माल मिला करता था। वह माल के सम्बन्ध में कभी किसी के द्वारा ठगा नहीं गया। ठीक ही है, जब वह दूसरों को नहीं ठगता था, तब दूसरों में कैसे यह साहस हो सकता था कि वे उसे ठगें। क्रोगार की इस प्रशंसनीय व्यापारिक कला ने कुछ ही वर्षों में उसे कहाँ-से-कहाँ पहुँचा दिया। देखते ही देखते बड़े-बड़े व्यवसायियों में उसकी गणना होने लगी और उसकी वह छोटी सी दुकान परिणत हो गई एक विशाल कोठी के रूप में। आज तो उसका गौरव इतना बढ़ा हुआ है कि उसके द्वारा सैंतीस सौ दुकानों का संचालन हो रहा है।

क्रोगार की इस उन्नति के एकमात्र आधार उसके मानवीय गुण हैं। वह पुरुषार्थी, साहसी और कर्मठ तो है ही, उसमें दयालुता और बन्धु-भावना भी कम नहीं। वह छोटे-बड़े प्रत्येक के साथ दयालुता और बन्धु का-सा व्यवहार करता है। विपुल सम्पत्ति का अधिपति होने पर भी उसके हृदय में कभी अभिमान नहीं देखा जाता। वह कभी किसी को ऐसी बात नहीं कहता जिससे उसके हृदय को आघात पहुँचे। वह निरन्तर नम्रता से बातें करता है। उसके प्रत्येक व्यवहार में नम्रता, साधुता और सरलता होती है। यही कारण है कि उसके मित्रों की संख्या बहुत अधिक और शत्रुओं की संख्या बहुत कम है। उसने अपने सौजन्य से प्रत्येक की साहनुभूति अपनी ओर खींच ली है। ग्राहकों की सुविधा की ओर उसका विशेष रूप से ध्यान रहता

है। उसकी दुकान पर कोई व्यक्ति ठगा नहीं जा सकता। वह अपनी दुकान में कोई ऐसी वस्तु नहीं रखता जो स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुपयोगी प्रमाणित होती है। अपनी दुकानों में बिकने वाली वस्तुओं की वैज्ञानिक परीक्षा के लिए उसने एक परीक्षागृह खोल रखा है। जितनी वस्तुएँ बिकने के लिए आती हैं, पहले परीक्षा के लिए परीक्षागृह में जाती हैं और परीक्षा में उपयोगी प्रमाणित होने के पश्चात् बिकने के लिए दुकानों में भेजी जाती हैं। संसार में कौन ऐसा व्यवसायी है, जो अपने ग्राहकों के स्वास्थ्य की इतनी चिन्ता करता हो। किन्तु क्रोगार साधारण व्यवसायी नहीं, व्यवसायियों के जगत् का एक महान् पुरुषार्थी है। उसने अपने व्यापारिक जीवन का जो दृष्टान्त जगत् के सामने रखा है, वह संसार के प्रत्येक व्यक्ति के लिए मनन करने की वस्तु है। संसार का प्रत्येक व्यवसायी उसे सामने रखकर सफलता-पूर्वक जीवन-क्षेत्र में अग्रसर हो सकता है।

—:०:—

भारतीय वीरता

पेरिस में भयङ्कर कोलाहल मचा हुआ है। शत्रु ने केसल की पहाड़ी तथा डनकर्क नगर पर भी अधिकार कर लिया है। जर्मन तोपें ७५ मील की दूरी से पेरिस में अग्नि-वर्षा कर रही हैं। फ्रांसीसियों के हृदय पर भी आतङ्क के काले बादल घिर रहे हैं। यद्यपि कुछ अमेरिकन फौजें आ पहुँची हैं तथापि उनकी संख्या पर्याप्त नहीं। मित्र राष्ट्रों के जनरलों को यही समस्या सता रही है कि शत्रुओं से पेरिस की रक्षा कैसे की जाय ?

सायंकाल का समय है। ब्रिटिश जनरल अपने तम्बू के भीतर चिन्ता में निमग्न बैठा है। फ्रांस की रक्षा कैसे होगी यह विचार उसके हृदय को व्याकुल किये हुए हैं। यदि शत्रु ने कैले के बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया, तो डोवर से ब्रिटिश सेनाएं और रसद भी न आ सकेगी, तो क्या होगा ? क्या ब्रिटिश सेनाओं की फ्रांस में पराजय होगी ? लेकिन क्या समुद्री युद्ध में ब्रिटेन जीत जायगा ? क्या ब्रिटिश जहाज जर्मनों की समुद्री सुरंगों तथा भयानक टारपीडों से आत्मरक्षा करते हुए उसे प्राप्त कर सकेंगे ? ओफ ! अमेरिका की फौजें अभी तक नहीं आईं ! जो कुछ आई हैं, उनसे भला क्या होगा ! शत्रु ४० दलों के साथ बढ़ता चला आ रहा है।

जनरल इसी विचार में मग्न था कि रणक्षेत्र से कर्नल जेक-

सन का एक पत्र-वाहक आ पहुँचा। सूचना मिलने पर जनरल ने स्वयं बाहर जाकर उससे कर्नल का पत्र ले लिया। इस समय जनरल अपने छोटे अफसरों पर भी कोई बात प्रकट नहीं होने देना चाहता था। पत्र खोलते ही आशंका हुई कि कर्नल जेक्सन ने कालेगढ़ को खो दिया। जर्मनों के बढ़ते हुए बल को देखकर ही जनरल ने यह आशंका की थी। पर पत्र खोल कर पढ़ने से मालूम हुआ कि कर्नल जेक्सन कालेगढ़ की रक्षा का भार आपने लेफ्टिनेण्ट धावनसिंह के हाथों में सौंप कर बाईं तरफ बढ़ गये हैं। यद्यपि ब्रिटिश जनरल के लिये यह बात कुछ अंशों में सन्तोष-जनक थी कि कर्नल जेक्सन शत्रु को पीछे हटा कर बाईं ओर बढ़ गये हैं पर सामने के मोर्चे को एक हिन्दुस्तानी के हाथ में सौंप कर आक्रमणकारी युद्ध इस समय की नीति के विरुद्ध था। इस आशंका के कारण जनरल ने तुरन्त दो पलटनों को साइसेन्स की ओर प्रयाण करने की आज्ञा दी।

कोहरे के विकट अन्धकार के साथ फ्रांस में ऊषा का उदय हो रहा है। सूर्य की लालिमा धरातल पर आने के प्रयास में लगी हुई है। नीहार इस मार्ग में बाधक है। आस-पास की पहाड़ियाँ भी इस धुंधले पटल की ओट में छिपी हुई हैं। कालेगढ़ की एक चट्टान पर एक भारतीय सैनिक बैठा हुआ कुछ सोच रहा है। पास ही दूरबीन पड़ी हुई है। युवक-सैनिक बार-बार उसे उठाकर सामने की तरफ देखता है, पर स्पष्ट कुछ न दिखलाई देने के कारण निराश हो दूरबीन जहाँ-की-तहाँ रख देता है। एकाएक उसकी दृष्टि

पास ही पड़े हुए नक्शे पर पड़ी। नक्शे में कर्नल जेक्सन ने गढ़ की रक्षा तथा अपने आक्रमण की रेखाएं अंकित की थीं और उसको बड़ी सावधानी के साथ रखने की बात लेफ्टिनेण्ट धावनसिंह से कही थी। धावनसिंह ने नक्शे को हाथ में उठा लिया। साइसेन्स पर अंगुली रख कर धावनसिंह फिर कुछ सोचने लगे।

सोचते-सोचते धावनसिंह ने कहा—"कभी नहीं! भारतीय सैनिक आत्म-समर्पण न करेगा। मैं भारत का नाम कदापि कलंकित न होने दूँगा। इसी समय पीछे से किसी ने गम्भीर स्वर से कहा—"कभी नहीं। भारतीय रक्त इस अपमान को कभी सहन न करेगा।"

लेफ्टिनेण्ट धावनसिंह ने चौंक कर पीछे घूमकर देखा। सूबेदार जीवनसिंह ने लेफ्टिनेण्ट को सलाम करते हुए फिर कहा—"लेफ्टिनेण्ट साहब, हम हिन्दुस्तानी सिपाही जीना नहीं जानते, हमें मृत्यु बहुत प्यारी है। फ्रांस में आकर हम भारत के नाम पर बलि हो जायँगे। पर भारतीय रक्त का गौरव अक्षुण्ण रखेंगे।"

"शाबाश! मैं तुम्हारे मुँह से यही सुनना चाहता था। यदि ब्रिटेन के लिये न मरेंगे तो भारत के लिए अवश्य मरेंगे।" लेफ्टिनेण्ट ने गद्‌गद्‌ स्वर से सूबेदार की ओर देखते हुए कहा।

जीवनसिंह ने पास की चट्टान के सहारे खड़े होकर कहा—

"लेफ्टिनेण्ट साहब, इस समय हमारी संख्या १६० है। पर, इतने पर भी यदि शत्रु के दो दल (डिवीज़न) आ जायँ तो हममें से एक भी आदमी उनके हाथों में जीवित न जायगा, हम मरते दम तक आत्मसमर्पण न करेंगे, अभी हमारे पास तीन दिन की रसद है। यद्यपि शत्रुओं ने हमें घेर लिया है, पर इस गढ़ के तोड़ने में उन्हें कम से कम छः तोपें ऊपर लानी पड़ेंगी। विना ७० गोले चलाये शत्रु गढ़ के भीतर प्रवेश करने का मार्ग नहीं वना सकते। सम्भव है कि इस काल में कर्नल जेक्सन लौट आवें।"

लेफ्टिनेण्ट धावनसिंह ने कहा—"कर्नल का लौटना कठिन है। शत्रु के सात दल (डिवीज़न) इस छोटे से मोर्चे की ओर आ रहे हैं। कर्नल साहब जल्दी में आकर आगे वढ़ गये हैं। देखें क्या परिणाम होता है।"

जीवनसिंह ने धीमे स्वर में कहा—"ईश्वर करे वे सकुशल लौट आयें।..............."

जीवनसिंह अपनी वात भी समाप्त न कर पाये थे कि शत्रु का पात्र-वाहक कपोत उनके पास उड़ता हुआ उतर आया। शत्रु का भेजा हुआ पत्र कपोत के कंठ से खोल कर लेफ्टिनेन्ट धावनसिंह ने पढ़ा और पास बैठे जीवनसिंह से कहा—"लो भाई, इसे पढ़ो, यह मृत्यु का अन्तिम निमन्त्रण है।"

पत्र पढ़कर जीवन ने गर्वित भाव से उत्तर दिया—"असंभव, आत्म-समर्पण करने से फ्रांस की वड़ी क्षति होगी। साथ ही हमारे कर्तव्य की अवहेलना होगी। समस्त काग़ज़-पत्र जर्मनों के

हाथ लग जायँगे। इसमें मित्र-राष्ट्रों को जो हानि पहुँचेगी, उसकी पूर्ति भारत नहीं कर सकेगा।"

धावनसिंह ने उदासीन भाव से कहा—"कागज-पत्र तो नष्ट भी किये जा सकते हैं।"

जीवनसिंह ने गम्भीर भाव कहा—"कागज-पत्रों के नष्ट से करने से क्या शत्रु के हाथों से निस्तार मिल जायगा? कदापि नहीं। उलटे हमारे सिपाहियों को पकड़कर वे लोग ब्रिटिश मोर्चों का हाल पूछ लेंगे। तरह-तरह की पीड़ाएं देकर उन्होंने बेलजियम के सैनिकों से ही लड़ाई के मोर्चे जान लिये थे।

धावनसिंह—"ऐसी अवस्था में हम लोगों का अन्तिम अवलम्बन मृत्यु के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?"

जीवनसिंह—"बेशक।"

धावनसिंह—"मृत्यु का उपाय क्या है?"

"उपाय बहुत हैं और सुगम हैं।" यह कहकर जीवनसिंह ने धावनसिंह के कानों में कुछ कहा, जिसे सुनकर लेफ्टिनेण्ट धावनसिंह चौंक पड़े और बिगड़ कर बोले—"असम्भव।"

"लेकिन इसके सिवा आप कर ही क्या सकते हैं?

"देखो बतलाता हूँ।" इतना कहकर लेफ्टिनेण्ट धावनसिंह ने उसी कपोत के गले में मोर्चे के नक्शे को बांध दिया।

जीवनसिंह ने चौंककर कहा—"यह आप क्या करते हैं? क्या शत्रु के पास हमारे मोर्चे का नक्शा भेजना चाहते हैं? मैं अपने जीते जी आपको यह कदापि न करने दूँगा!"

लेफ्टिनेण्ट—"नहीं। इस नक्शे को मैं कर्नल के पास भेज रहा हूँ। इस कपोत को जिस ओर उड़ायेंगे वह उसी ओर के मोर्चे पर जाकर उतरेगा। यह जर्मनों द्वारा पकड़ा हुआ ब्रिटिश सेना का कबूतर है। यदि यह नक्शा यहाँ रह गया तो हमारा सब यत्न निष्फल हो जायगा। अतएव इस नक्शे को कर्नल के पास भेजकर हम निश्चिन्त हुए जाते हैं। अब समझ गये न ?"

जीवनसिंह—"हाँ यह ठीक है। अच्छा, अब २४ घण्टे के भीतर शत्रु इस गढ़ पर गोले बरसाने लगेगा। इसलिए बतलाइये कि क्या करना होगा ?"

धावनसिंह ने कबूतर को पहाड़ी की बाईं ओर के ब्रिटिश मोर्चे की तरफ उछाल दिया। कबूतर उसी तरफ उड़ता हुआ चला गया।

इसके उपरान्त लेफ्टिनेण्ट धावनसिंह ने गम्भीर स्वर से कहना आरम्भ किया—"फ्रांस हमारा बलिदान चाहता है। इंग्लैण्ड हमारा बलिदान चाहता है। भारत हमारी बलि पाकर ही सन्तुष्ट होगा। हम आत्म-बलिदान करेंगे। हम अपनी परम प्यारी मातृ-भूमि के लिए सात समुद्र पार इस विदेशी भूमि को भारतीय रक्त से सींच कर पवित्र करेंगे। सिपाहियों से कह दो मातृ-भूमि तुम्हारा बलिदान चाहती है।"······

[२]

"आज की संध्या जीवन की अन्तिम संध्या है। आज का सूर्य-दर्शन लौकिक प्रकाश का अन्तिम दर्शन है। मेरे साथ मेरे अन्य

साथियों की भी अन्तिम घड़ियाँ हैं। अन्तर केवल यह है कि मैं उसे अनुभव कर रहा हूँ, पर वे अनुभव नहीं करते। ओह! संसार कितनी भ्रम-पूर्ण स्थिति से अतिक्रमण कर रहा है। जीवन के बड़े-बड़े कार्य, यहाँ तक कि उसका अन्त तक अज्ञान और अनजान में ही हो जाता है। मनुष्य अपनी धुन में लगा हुआ अपने जीवन की भेंट रख देता है।.....मैं इन सबका उत्तरदायी हूँ। मेरे विश्वास में बँधे हुए हिन्दुस्तानी सैनिक कल जीवन-दान करेंगे। कर्त्तव्य—यदि तेरी यही परिभाषा हो तो तू बड़ा निर्दय है। मैं तेरे बन्धन में पड़ा हुआ निरपराध आत्माओं का बलिदान करने जा रहा हूँ। अनेक माताओं ने अपने इकलौते लालों को ब्रिटिश गौरव पर निछावर हो जाने के लिए भेजा है। अनेक भगिनियों ने अपने भाइयों की भुजाओं पर विजय-कंकण बाँध कर उन्हें भारत की नारियों की कीर्ति अमर करने के लिए विदा दी है। अनेक रमणियों ने अपने प्राण-धन पतियों को अपने बाहु-बल की मर्यादा स्थापित करने के लिए सजल नेत्रों से विदा किया है। वे कल शोकाश्रु बहाकर प्राण त्याग देंगी, और इस सब का उत्तरदाता होऊँगा मैं। मैं, ओफ! मैं यह क्या कर रहा हूँ, लेकिन फिर भी क्या मैं आत्म-समर्पण कर दूँ?"

लेफ्टिनेण्ट धावनसिंह मन-ही-मन उपर्युक्त विचारों में निमग्न थे। आसपास गढ़ के पहरे वाले सैनिकों की तरफ देख कर वे फिर कुछ सोचने लगे कि भविष्य का रक्त-रंजित दृश्य उनकी आँखों के सामने नाचने लगा। विश्रान्त और क्लान्त

पथिक की तरह एक चट्टान के ऊपर बैठ कर फिर कुछ सोचने लगे।—देश की रक्षा के लिए, राजा का मान बचाने के अर्थ, वे अपने को समरयज्ञ में बलि करने के लिए तैयार हैं। किन्तु जिस समय इन्हें यह स्मरण आता होगा कि देश-गौरव-रक्षा के लिए सैकड़ों भारत-माताओं ने अपनी गोद सूनी कर अपने हृदय के टुकड़ों को समर-भूमि में भेजकर, सैकड़ों बहनों ने अपने भ्रातृ-प्रेम को पीछे रख तथा कितनी ही स्नेह-मूर्ति भार्याओं ने अपने हृदय की विकलता को देखकर विदा किया है और वे उनके लौटने की आशा के आधार पर जी रही होंगी। इस समय, क्या इन सैनिकों का मन विचलित न होगा। मैं इनकी इस व्यथा का कारण हूँ—

घड़ी में समय देखकर लेफ्टिनेण्ट ने कुछ सोचते हुए कहा—"भाई, देखो आज भ्रातृ-द्वितीया का पवित्र दिन है। भारत में आज घर-घर इस पवित्र त्यौहार की धूम होगी। प्रत्येक बहन आज अपने भाई के लिए ईश्वर से मंगल-प्रार्थना करेगी, उन्हें अच्छे-अच्छे भोजन कराएगी, स्नेह से प्रफुल्लित हो उन्हें आशीर्वाद देगी। ऐसा पवित्र त्यौहार अन्य देश में शायद ही होता हो। आज के दिन भारतवर्ष में भाई-बहनों के अन्तःकरण में जिन सुन्दर भावों का संचार है उनका महत्त्व पृथ्वी की अन्य कोई भी जाति नहीं समझ सकती। सुदूर देश में होने के कारण हम लोग इस पवित्र त्यौहार से वंचित हैं, वंचित ही नहीं वरन् उसका दुरुपयोग कर रहे हैं। आज हमारी बहनें ईश्वर से

साथियों की भी अन्तिम घड़ियाँ हैं। -
उसे अनुभव कर रहा हूँ, पर वे आ
संसार कितनी भ्रम-पूर्ण स्थिति से आ
के बड़े-बड़े कार्य, यहाँ तक कि उसक
अनजान में ही हो जाता है। मनुष्
अपने जीवन की भेंट रख देता है।"
हूँ। मेरे विश्वास में बँधे हुए हिन्दुस्त
करेंगे। कर्त्तव्य—यदि तेरी यही पि
है। मैं तेरे बन्धन में पड़ा हुआ निर
करने जा रहा हूँ। अनेक माताओं
ब्रिटिश गौरव पर निछावर हो जाने
भगिनियों ने अपने भाइयों की भुजा
कर उन्हें भारत की नारियों की कीर्ति
दी है। अनेक रमणियों ने अपने प्राण
बल की मर्यादा स्थापित करने के लिए
है। वे कल शोकाश्रु बहाकर प्रा
सब का उत्तरदाता होऊँगा मैं। मैं,
हूँ, लेकिन फिर भी क्या मैं आत्म-सा

लेफ्टिनेण्ट धावनसिंह मन-ह
निमग्न थे। आसपास गढ़ के पहरे
कर वे फिर कुछ सोचने लगे कि
उनकी आँखों के सामने नाचने ए

म

हां

ाया

त्याग

चली

र क

कर कुछ सैनिकों को पहाड़ी पर बाईं ओर चढ़ा दिया। भारतीय सैनिक रणरंग में उन्मत्त होकर दोनों तरफ गोलियाँ चलाने लगे। पर एक सौ सैनिक क्या कर सकते हैं ? धीरे-धीरे भारतीय सैनिकों की संख्या घटने लगी। वे गढ़ की दीवार से ढुलक-ढुलक कर पहाड़ी के नीचे गिरने लगे। वक्षःस्थल पर गोली लगते ही सूबेदार जीवनसिंह ने भी वीरलोक की यात्रा की। गढ़ का दक्षिणी मोर्चा निर्बल पड़ गया। लेफ्टिनेण्ट धावनसिंह यह दृश्य देख रहे थे। दक्षिणी मोर्चे के सैनिक उनकी तरफ देखने लगे। लेफ्टिनेण्ट समझ गये। उन्होंने बन्दूक उठाकर गर्जते हुए कहा—"मैं आ रहा हूँ। मेरी तरफ मत देखो, शत्रु का सामना करो। वीरो, तुम्हारे गिरे हुए रक्त-बिन्दुओं से फ्रांस के वक्षःस्थल पर भारत-गौरव का इतिहास लिखा जा रहा है। देखो, कहीं इतिहास इन पंक्तियों को लिखते-लिखते अपनी लेखनी न रोक दे। वीरो, प्राणों का मोह न करो। भारत के नाम पर बलि हो जाने वाले वीर ! देखते क्या हो, शत्रु सिंहद्वार तक आ पहुँचा है। सब मिल कर एक लक्ष्य पर गोलियाँ चलाओ।"

धावनसिंह गरज कर फाटक के बुर्ज पर जा पहुँचे। कुछ मिनट के लिए आगे बढ़ने वाले शत्रु-सैनिक भारतीय सैनिक पर —गोलियों से अपनी रक्षा के लिए—पत्थरों और चट्टानों की आड़ में बैठकर गोली चलाने लगे। भारतीय सैनिकों की संख्या थोड़ी ही देर में ३२ रह गई थी। शत्रुओं की दूसरी बौछार में केवल ११ भारतीय सैनिक ही गढ़ की दीवार पर रह गये। धीरे-धीरे ५, ३